CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन धर्म-सार

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुझावार्थ

महोदय,

जैन-धर्म-सार ग्रन्थ के आरम्भ में सन्त विनोबाजी ने अपने निवेदन में कहा है कि सर्व-धर्म-समन्वय और दिलों को जोड़ने की दृष्टि से उन्होंने धम्मपद नवसंहिता तैयार की, ऋग्वेद-सार, मनु-शासनम्, भागवत-धर्म-सार, अष्टादशी, कुरान-सार, खिस्त-धर्म-सार आदि धर्म-ग्रन्थों का सार निकाला है, उसी तरह से जैन-धर्म का सार भी निकले, ऐसी उनकी तीव्र भावना बहुत दिनों से थी।

उसके अनुसार उनके दिशा-दर्शन में जैन-समाज के प्रमुख साधक-तपस्वी श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने अखण्ड परिश्रम करके जैन-धर्म-सार ग्रन्थ का संकलन तैयार किया है। उसकी छपी पांडुलिपि आपके सुझावों के लिए साथ भेजी जा रही है। पहुँच देने की कृपा कीजियेगा।

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी के मंगल अवसर पर इस ग्रन्थ को सबकी राय से सर्वमान्य स्वरूप प्राप्त हो सके तो यह इस शती की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। अतः आपसे अनुरोध है कि आप जैन-धर्म-सार का गहराई से अवलोकन करके अपने सुझाव १५ जुलाई '७४ तक अवश्य भेजने की कृपा कीजियेगा।

प्राप्त सुझावों पर विचार-विनिमय के लिए सन्त विनोबाजी के सान्निध्य में (वर्धा) सितम्बर के प्रथम सप्ताह में विद्वज्जनों की एक संगीति का आयोजन करना है। उसके पूर्व १५ जुलाई तक आपके बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हो जायँ, ताकि संगीति के संयोजन में सुविधा हो।

इस कार्य के लिए आपकी राय में जिन विद्वज्जनों से सम्पर्क आवश्यक है, उनके नाम पूरे पते सहित यहाँ भेजने की कृपा कीजियेगा, ताकि उन्हें भी ग्रन्थ भेजा जा सके।

विनम्र

श्री डा० ... चंद जैन
______ ...
______

कृष्णराज मेहता
संयोजक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
वाराणसी-१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म-सार

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
सं. 4535
3-8-99
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

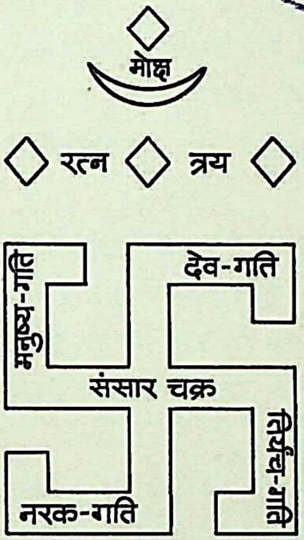

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक
सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी
विषय
धर्म
संस्करण
प्रथम
मुद्रक
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
२३/४-७४

Title : Jain Dharma Sara.
Publisher : Sarva Seva Sangh Prakashan
Rajghat, Varanasi.
Subject : Jainism

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवेदन

विज्ञान ने दुनिया छोटी बना दी, और वह सब मानवों को नजदीक लाना चाहता है। ऐसी हालत में मानव-समाज संप्रदायों में बँटा रहे, यह कैसे चलेगा ? हमें एक-दूसरे को ठीक से समझना होगा। एक-दूसरे का गुणग्रहण करना होगा।

अतः आज सर्वधर्म-समन्वय की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। इसलिए गौण-मुख्य-विवेकपूर्वक धर्मग्रंथों से कुछ वचनों का चयन करना होगा। सार-सार ले लिया जाय, असार छोड़ दिया जाय, जैसे कि हम संतरे के छिलके को छोड़ देते हैं, उसके अन्दर का सार ग्रहण कर लेते हैं।

इसी उद्देश्य से मैंने 'गीता' के बारे में अपने विचार 'गीता-प्रवचन' के जरिये लोगों के सामने पेश किये थे और 'धम्मपद' की पुनर्रचना की थी। बाद में 'कुरान-सार', 'ख्रिस्त-धर्म-सार', 'ऋग्वेद-सार', 'भागवत-धर्म-सार', 'नामघोषा-सार' आदि समाज के सामने प्रस्तुत किये।

मैंने बहुत दफा कहा था कि इसी तरह जैन-धर्म का सार बताने-वाली किताब भी निकलनी चाहिए। उस विचार के अनुसार यह किताब श्री जिनेंद्र वर्णीजी ने तैयार की है। बहुत मेहनत इसमें की गयी है। यह आवृत्ति तो सिर्फ विद्वद्जन के लिए ही निकाली जा रही है। यह पहले कोई एक हजार लोगों के पास भेजी जायगी। उनमें जैन लोग भी होंगे, और दूसरे लोग भी होंगे। वे अपने-अपने सुझाव देंगे। फिर उन सबकी एक 'संगीति' बुलायी जायगी। सब इकट्ठा बैठकर इस पर चिन्तन-मनन, चर्चा आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करके इसमें जो कुछ फरक करना है, वह फरक करके जैन-धर्म के अनुशासन के अनुसार अंतिम रूप देकर ४००-५०० वचनों में 'जैन-धर्म-सार' समाज के सामने रखेंगे। बहुत महत्त्व की बात है यह। एक बहुत बड़ा काम हो जायगा। जैसे हिन्दुओं की 'गीता' है, बौद्धों का 'धम्मपद' है, वैसे ही जैन-धर्म का सार सबको मिल जायगा।

बरसों तक भूदान के निमित्त भारतभर में मेरी पदयात्रा चली, जिसका एकमात्र उद्देश्य दिलों को जोड़ने का रहा है। बल्कि, मेरी जिन्दगी के कुल काम दिलों को जोड़ने के एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में भी वही प्रेरणा है। मैं आशा करता हूँ, परमात्मा की कृपा से वह सफल होगी।

ब्रह्म-विद्या मन्दिर, पवनार
१-१२-'७३

विनोबा का
जय जगत्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पण

जिसके आलोक से यह आलोकित
है, जिसकी प्रेरणाओं से यह
ओतप्रोत है और जिसकी
शक्ति से यह लिखा
गया है, उसी
के कर कमलों
में सविनय
समर्पित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ-परिचय

"बुद्ध और महावीर भारतीय आकाश के दो उज्ज्वल रत्न हैं। ......बुद्ध और महावीर दोनों कर्मवीर थे। लेखन-वृत्ति उनमें नहीं थी। वे निर्ग्रन्थ थे। कोई शास्त्र-रचना उन्होंने नहीं की। पर वे जो बोलते जाते थे, उसीमें से शास्त्र बनते जाते थे, उनका बोलना सहज होता था। उनकी बिखरी हुई वाणी का संग्रह भी पीछे से लोगों को एकत्र करना पड़ा।"

"बुद्ध-वाणी का एक छोटा-सा संग्रह 'धम्मपद' नाम से दो हजार साल पहले हो चुका था, जो बुद्ध समाज में ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया में भगवद्‌गीता के समान प्रचलित हो गया है।"

"धम्मपद काल-मान्य हो चुका है। 'महावीर-वाणी' भी हो सकती है, अगर जैन समाज एक विद्वत्परिषद् के ज़रिये पूरी छानबीन के साथ उनके वचनों का और उनके क्रम का निश्चय करके एक प्रमाणभूत संग्रह लोगों के सामने रखे। मेरा[1] (विनोबा का) जैन समाज को यह एक विशेष सुझाव है। अगर इस सूचना पर अमल किया गया, तो जैन-विचार के लिए जो पचासों किताबें लिखी जाती हैं, उनसे अधिक उपयोग इसका होगा।"

"ऐसा अपौरुषेय संग्रह जब होगा तब होगा। पर तब तक पौरुषेय संग्रह व्यक्तिगत प्रयत्न से जो होंगे, वे भी उपयोगी होंगे।"

ये हैं भारत-आत्मा सन्त विनोबा के जैनधर्म के प्रति कुछ उद्‌गार, जो उन्होंने जैनधर्मके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदासजी कृत, 'महावीर-वाणी' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में व्यक्त किये हैं।

'तत्त्वार्थ-सूत्र' निःसन्देह जैन-दर्शन का एक अद्वितीय ग्रन्थ है, परन्तु सूत्रात्मक होने के कारण वह भारत की वर्तमानयुगीन आत्मा को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ बाबा की शुभ भावना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और श्री राधाकृष्णजी बजाज की आग्रहपूर्ण प्रेरणा की पूर्ति के अर्थ एक निदर्शन मात्र छोटा-सा प्रयास है। प्रभु से प्रार्थना है कि वह समय आये जब कि जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों व उपसम्प्रदायों के आचार्य मिलकर बाबा के स्वप्न को साकार करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ आगमगत एवं आचार्य-प्रणीत ४२९ गाथाओं व श्लोकों का एक संग्रह है, जिसमें संग्रहकर्ता ने कहीं भी अपने शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। यदि विषय को विशद करने के लिए कहीं कोई शब्द- प्रयोग करना पड़ा है, तो वह कोष्ठक या टिप्पणी में दे दिया गया है। विषय व्याख्या की सिद्धि गाथाओं की क्रम-योजना द्वारा की गयी है। जैनदर्शन के प्रायः सभी मौलिक अंग व विषय इसमें आ गये हैं।

संग्रह में आधी गाथाएँ श्वेताम्बर साहित्य से ली गयी हैं और आधी दिगम्बर साहित्य से। श्वेताम्बर गाथा के सन्दर्भ के सामने तुलनार्थ दिगम्बर गाथा का सन्दर्भ दिया गया है और दिगम्बर गाथा के सामने श्वेताम्बर गाथा का, ताकि पाठक इस बात का अनुमान लगा सकें कि प्रायः सभी दार्शनिक व धार्मिक विषयों में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। ज़ो कुछ थोड़ा-बहुत व्यावहारिक मतभेद है, वह 'आम्नाय' नामक अन्तिम अधिकार में दे दिया गया है।

प्रयत्न किया गया है कि गाथाएँ प्राचीन ग्रन्थों से ली जायें और प्राकृत की ही हों, परन्तु विषय के प्रवाह को अटूट रखने के लिए कहीं-कहीं, जहाँ उपयुक्त गाथाएँ उपलब्ध नहीं हो सकी हैं, वहाँ अर्वाचीन ग्रन्थों से कुछ संस्कृत के श्लोक भी ग्रहण कर लिये गये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

'जैन' नाम से भले ही इस दर्शन की आदि रही हो, परन्तु श्रमण संस्कृति के नाम से यह अक्षय व अनाद्यनन्त है। युग-युग में महापुरुष इस भूमण्डल के विविध प्रदेशों में अवतार धारण करते आये हैं, और करते रहेंगे। भगवान् महावीर भी उनमें से एक थे। तीर्थ (भवसागर का तीर) प्रवर्तक होने के कारण ये सभी तीर्थंकर कहलाते हैं। देश-काल की आवश्यकतानुसार सभी प्रायः एक ही उपदेश देते हैं।

इतना विशेष है कि स्वयं पूर्णकाम होते हुए भी उनमें से कोई आज तक न तो पूर्ण का प्रतिपादन कर सका है और न कर सकेगा। देश तथा काल की आवश्यकता के अनुसार सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से उसके किसी एक-आध अंग को ही प्रधान करके कहते आये हैं और कहते रहेंगे। यदि पूर्ण के सुन्दर दर्शन करने हैं तो सबका संग्रहीत सार समक्ष रखना होगा, जो न होगा हिन्दू, न मुसलमान, न वेदान्त न बौद्ध, न जैन। वह होगा 'सत्य'—केवल सत्य।

'जैन' नाम से प्रसिद्ध इस दर्शन का तात्त्विक प्रतिपादन भी वास्तव में एक दृष्टिकोण ही है, पूर्ण नहीं। धर्म के नाम पर हिंसा-प्रवृत्ति वाले उस युग में भगवान् महावीर ने समष्टितत्त्व की चर्चा में पड़ना अधिक उचित न समझा। इसीसे उनका यह दर्शन व्यष्टिगत सत्ताओं तक सीमित रहा। इसके अन्तर्गत उन्होंने छह जाति के सत्ताभूत द्रव्यों की स्थापना की—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। 'जीव' शब्द यहाँ केवल देहधारी प्राणी का नहीं बल्कि स्वसंवेद्य उस अन्तर्चेतना का वाचक है जो प्रत्येक देह में अवस्थित है। इसके अतिरिक्त जितना कुछ भी बाह्याभ्यन्तर प्रपंच दिखाई देता है, वह सब 'पुद्गल' कहलाता है। ये दो ही द्रव्य व्यवहार्य होने से प्रधान हैं, शेष इनकी वृत्ति के अदृष्ट हेतु मात्र हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्ति सरलता से अपने तात्त्विक जीवन का अध्ययन करके हेयोपादेय का यथार्थ विवेक जागृत कर सके, इस उद्देश्य से नव तत्त्वों के रूप में जीवन का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व व्यक्ति को देहादि पौद्गलिक प्रपंच से भिन्न अन्तर्चेतना का दर्शन कराते हैं। आस्रव, पुण्य, पाप तथा बन्ध ये चार तत्त्व उसके द्वारा नित्य किये जानेवाले बन्धनकारी कर्मों का तथा उनके कारणभूत राग-द्वेषादि का परिचय देते हैं। संवर व निर्जरा तत्त्व उस साधना की ओर निर्देश करते हैं, जिसके द्वारा जीव इन महा शत्रुओं को जीतकर 'स्वतंत्रता' प्राप्त कर सकता है, जो 'मोक्ष' नामक अन्तिम आनन्दपूर्ण अवस्था का ही द्योतक है।

जैनदर्शन में 'धर्म' शब्द का अर्थ अति-व्यापक एवं वैज्ञानिक है। धर्म स्वभाववाची शब्द है। आत्मा का स्वभाव है मोह क्षोभविहीन समता-परिणाम। यही इसका धर्म है और यही परमार्थ चारित्र। अन्य सर्व विस्तार संस्कारों के नीचे दबे पड़े इसी स्वभाव को हस्तगत करने की साधना के लिए हैं। ज्ञान को परमार्थ की ओर सदा जागृत रखना और शास्त्र-विहित कर्मों के प्रति प्रमाद न करना, इस प्रकार अन्ध-पंगु न्याय से ज्ञान व कर्म दोनों से उसकी अभिव्यक्ति सम्भव है—न अकेले ज्ञान से और न अकेले कर्म से! 'सम्यग्दर्शन' श्रद्धा, बहुमान, रुचि व भक्तिरूप हार्दिक भाव जागृत करके इन्हें सरस बना देता है। और यही है जैन का त्रिमुखी मोक्षमार्ग-**सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**।

यद्यपि हितमार्ग में इतना पर्याप्त हैं, परन्तु जैनदर्शन की महत्ता इससे बहुत आगे उस 'स्याद्वाद'-दृष्टि में निहित है, जिसके द्वारा यह त्रिलोक व त्रिकालवर्ती सकल दर्शनों व धर्मों को आत्मसात् कर लेता है, जिसकी दृष्टि में स्व-पक्ष पोषणार्थ किसी भी अन्य दर्शन या धर्म का निषेध करना एकान्त मिथ्यात्व नामक महापाप है। तत्त्व अनन्त धर्मात्मक होने से अनेकान्त स्वरूप हैं इसलिए सभी दृष्टियों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समुदित किये बिना उसका दर्शन सम्भव नहीं। सर्वधर्म समभाव की यह परमोज्ज्वल भावना ही जैन दर्शन के विशाल व उदार हृदय की द्योतक है।

प्राय: सभी दर्शनों व धर्मों ने यद्यपि यथावकाश किसी न किसी रूप में इस दृष्टि को स्वीकार किया है, परन्तु सांगोपांग सिद्धांत अथवा प्रणाली के रूप में इसे प्रस्तुत करने का श्रेय केवल जैन-दर्शन को ही प्राप्त है, जिसके कारण यह सदा गौरवान्वित होता रहेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ-संकेत

संकेत – ई० =ईस्वी सन् श० =शताब्दी, ई० पू० =ईस्वी पूर्व । वि० श०=विक्रमशती

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
१	अ० ग० श्रा०	अमितगति श्रावकाचार	आ० अमितगति	सं०	ई० ९९३	दि०
२	अध्या० उप०	अध्यात्म उपनिषद्	उपा० यशोविजय	सं०	ई० १६३८	श्वे०
३	अध्या० सा०	अध्यात्म-सार	,, ,,	,,	,,	,,
४	अनगार धर्मं०	अनगार धर्मामृत	पं० आशाधर	,,	ई० ११७३	दि०
५	आ० अनु०	आत्मानुशासन	आ० गुणभद्र	,,	ई० ८५०	दि०
६	आचा०	आचारांग	संग्रहकर्ता देवर्द्धिगणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
७	आतु० प्र०	आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक	अज्ञात	प्रा०	वि० श० ५ के पश्चात्	श्वे०
८	आ० परी०	आप्त परीक्षा	आ० विद्यानन्दि	सं०	ई० ८००	दि०
९	आ० मी०	आप्त मीमांसा	आ० समन्तभद्र	सं०	ई० श० २	दि०
१०	आवश्यक सूत्र	आवश्यक सूत्र	संग्रह० देवर्द्धिगणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
११	इ० उ०	इष्टोपदेश	आ० पूज्यपाद	सं०	ई० श० ५	दि०
१२	ई० उप०	ईशावास्योपनिषद्	(वेदान्त का आगम)	सं०	ई० पू० ३०००	वेद
१३	उत्तरा०	उत्तराध्ययन	संग्रह ग्रन्थ	प्रा०	वि० पू० २००-३००	श्वे०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
	उपा०	उपाध्याय				
१४	उपा० दश०	उपासक दशांग	संग्रह०देवर्द्धिगणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
१५	औपपा० सूत्र	औपपातिक सूत्र	,,	प्रा०	,,	श्वे०
१६	क० पा०	कषाय पाहुडकी जयधवला टीका	आ० वीरसेन	प्रा०	ई० ८२५	दि०
१७	का० अ०	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	कुमार कार्तिकेय	प्रा०	ई० १०२५	दि०
	गा०	गाथा				
१९	गो० क०	गोमट्टसार कर्मकाण्ड	आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती	प्रा०	ई० श० ११पूर्वार्ध	दि०
२०	गो० जी०	गोमट्टसार जीव काण्ड	,,	,,	,,	,,
२१	गो० जी० जी० प्र०	गोमट्टसार की जीवप्रबोधिनी टीका	आ० केशववर्णी	सं०	ई० १३६०	,,
२२	ज्ञा०	ज्ञानार्णव	आ० शुभचन्द्र	सं०	ई० १०४०	,,
२३	ज्ञा० सा०	ज्ञानसार	उपा० यशोविजय	सं०	ई० १६३८	श्वे०
२४	चा० पा०	चारित्र पाहुड़	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
२५	ज० प०	जंवुद्दीव पण्णति	आ० पद्मनन्दी	प्रा०	ई० १०२०	दि०
२६	त० अनु०	तत्त्वानुशासन	आ० नागसेन	सं०	ई० श० १२	दि०
२७	त० सू०	तत्त्वार्थ-सूत्र	आ० उमास्वामी	सं०	ई० २००	दि०
२८	ति० प०	तिल्लोय पण्णाति	आ० यतिवृषभ	प्रा०	ई० ५८०	दि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
	तु०	तुलना				
२९	त्रि० सा०	त्रिलोक सार	आ० नेमिचन्द्र	प्रा०	ई० श० ११ पूर्वार्ध	दि०
२९	द० पा०	दर्शन पाहुड़	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
३०	दश० वै०	दश वैकालिक	शय्यम्भव सूरि	प्रा०	वि० पू० ४००	श्वे०
३१	दशाश्रुत	दशाश्रुत स्कन्ध	भद्रबाहू प्रथम	,,	वि० पू० ३००	,,
	दि०	दिगम्बर आम्नाय				
	दे०	देखो (दृष्टव्य)				
३२	देवेन्द्र स्तव	देवेन्द्र स्तव प्रकीर्णक	अज्ञात	प्रा०	वि०श०५के पश्चात्	श्वे०
३३	द्र० सं०	द्रव्य संग्रह	आ० नेमिचन्द्र	प्रा०	ई० श० ११ पूर्वार्ध	दि०
३४	ध० १	धवला टीका पुस्तक १	आ० वीरसेन	सं०	ई० ८२५	दि०
३५	न० च०	नयचक्र वृहद्	आ० देवसेन	प्रा०	ई० ९००	दि०
३६	नन्दि सूत्र	नन्दि सूत्र	देव वाचक	प्रा०	वि० पू० ५००	श्वे०
३७	नवतत्त्व प्र०	नवतत्त्व प्रकरण	संग्रह ग्रन्थ	प्रा०	ई० ९००	,,
३८	नि० सा०	नियम सार	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
३९	पद्म पु०	पद्म पुराण	आ० रविषेण	सं०	ई० ७००	दि०
४०	प० प्र०	परमात्म प्रकाश	योगेन्दु देव	प्रा०	ई० श० ६	दि०
४१	पवयण० सा०	पवयणसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	प्रा०	ई० श० १३	श्वे०
४२	पं० का०	पंचास्तिकाय	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
४३	पं० ध्या० । उ०	पंचाध्यायी उत्तरार्ध	पं० राजमल्ल	सं०	ई० १५८०	दि०
४४	पं० विं०	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	आ० पद्मनन्दि	सं०	ई० १०७०	दि०
४५	पं० सं०	पंच संग्रह	संग्रह ग्रन्थ	प्रा०	अज्ञात	दि०
४५	पिण्ड नि०	पिण्ड निर्युक्ति	अज्ञात	प्रा०	वि० श० ५के पश्चात्	श्वे०
४६	प्र० व्या०	प्रश्न व्याकरण	संग्रह० देवर्द्धिगणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
४७	प्र० सा०	प्रवचन सार	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
	प्रा०	प्राकृत भाषा				
४८	बा० अ०	बारस अणुवेक्खा	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
४९	बो० पा०	बोध पाहुड़	”	”	”	”
५०	भ० आ०	भगवती आराधना	आ० शिवकोटि	”	ई० श० १	”
५१	भक्त परि०	भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक	अज्ञात	”	वि० श० ५	श्वे०
५२	म० पु०	महा पुराण	आ० जिनसेन	सं०	ई० ८२५	दि०
५३	मरण समा०	मरण समाधि प्रकीर्णक	अज्ञात	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
५४	महा० प्र०	महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक	”	”	”	”
५५	मू० आ० ।–	मूलाचार । गाथा	आ० वट्टकेर	प्रा०	ई० १५०	दि०
५६	मू० आ० ।–।–	(अधि० गाथा)	आ० कुन्दकुन्द	”	”	”
५७	मोक्ष पंचा०	मोक्ष पंचाशत	उद्धृत ग्रन्थ	सं०	”	दि०
५८	मो पा०	मोक्षपाहुड़	”	”	”	”

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
५८	यो० शा०	योग शास्त्र	हेमचन्द्राचार्य	सं०	ई० ११००	श्वे०
५९	यो० सा० अ०	योगसार	आ० अमितगति	सं०	ई० ९५०	दि०
६०	र० सा०	रयणसार	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	"
६१	राय० पएस०	राय पएसणीयसुत्त	संग्रह० देवर्द्धि गणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
६१	रा० वा०	राज वार्तिक	आ० अकलंकदेव	सं०	ई० ६६०	दि०
६२	वसु० श्रा०	वसुनन्दि श्रावकाचार	आ० वसुनन्दि	प्रा०	ई० १०२५	दि०
६३	वि० आ० भा०	विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणी	प्रा०	ई० ६०९	श्वे०
६४	व्या० प्र०	व्याख्या प्रज्ञप्ति	संग्रह० देवर्द्धि गणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
६५	श्लो० वा०	श्लोकवार्तिक	आ० विद्यानन्दि	सं०	ई० ८००	दि०
	श्वे०	श्वेताम्बर आम्नाय				
६६	षट० ख०	षटखण्डागम	आ० भूतबलि	प्रा०	ई० १००	दि०
६७	सन्मति०	सन्मति तर्क	आ० सिद्धसेन दिवाकर	प्रा०	ई० श० । ४–५	श्वे०
६८	स० श०	समाधि शतक	आ० पूज्यपाद	सं०	ई० श० । ५	दि०
६९	स० सा०	समयसार	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
७०	स० सा० । क०	समयसार कलश	आ० अमृतचन्द्र	सं०	ई० १०००	दि०
७१	स० सि०	सर्वार्थ सिद्ध	आ० पूज्यपाद	सं०	ई० श० ५	दि०
	सं०	संस्कृत भाषा				
७२	सा० धर्म०	सागार धर्मामृत	पं० आशाधर	सं०	ई० १२००	दि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	संकेत	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	भाषा	समय	आम्नाय
७३	सामा० पा०	सामायिक पाठ	आ० अमितगति	सं०	ई० १०००	दि०
७४	साव० पण्ण	सावय पण्णत्ति	हरिभद्र सूरि	प्रा०	ई० श० ५	श्वे०
७५	सि० वि०	सिद्धि विनिश्चय	आ० अकलंक	सं०	ई० ६६०	दि०
७६	सू० कृ०	सूत्र कृतांग	संग्रह० देवर्द्धि गणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
७७	सू० पा०	सूत्र पाहुड़	आ० कुन्दकुन्द	प्रा०	ई० १५०	दि०
७८	स्था०	स्थानांग	संग्रह० देवर्द्धि गणी	प्रा०	वि० श० ५	श्वे०
७९	स्या० मं०	स्याद्वादमंजरी	आ० मल्लिषेण	सं०	ई० १३२०	श्वे०
८०	स्वयं० स्तो०	स्वयंभू स्तोत्र	आ० समन्तभद्र	सं०	ई० श० २	दि०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा गणना सूची

संकेत–श्वे०=श्वेताम्बर, दि०=दिगम्बर, सा०=सामान्य

	अधिकार	गाथाओं की गणना			
		श्वे.	दि.	सा.	कुल
१	मिथ्यात्व अधि० (अविद्या योग)	११	५	२	१८
२	रत्नत्रय अधि० (विवेक योग)	३	५		८
३	समन्वय अधि० (समन्वययोग)	८	८		१६
४	सम्यग्दर्शन अधि० (जागृति योग)	१५	१९	२	३६
५	सम्यग्ज्ञान अधि० (सांख्य योग)	२३	१३	१	३७
६	निश्चय चारित्र अधि० (बुद्धि योग)	१२	११		२३
७	व्यवहार चारित्र अधि० (कर्म योग)	१४	८	१	२३
८	संयम अधि० (विकर्म योग)	२३	१७	१	४१
९	तप अधि० (राज योग)	१०	१६	३	२९
१०	सल्लेखना मरण अधि० (सातत्य योग)	५	४	१	१०
११	धर्म अधि० (मोक्ष संन्यास योग)	२०	२५		४५
१२	द्रव्य अधि० (विश्वदर्शन योग)	४	१९		२३
१३	तत्वार्थ अधि०	१७	२०		३७
१४	सृष्टि व्यवस्था	१	१४		१५
१५	अनेकान्त अधि० (द्वैताद्वैत)	९	९		१८
१६	एकान्त व नय अधि० (पक्षपात निरसन)	१२	८		२०
१७	स्याद्वाद अधि० (सर्वधर्म समभाव)	४	५		९
१८	आम्नाय अधि०	१६	५		२१
		२०७	२११	११	४२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड (धर्म)

विषय	गाथांक
१. मिथ्यात्व अधिकार	
(अविद्या योग)	
१. मंगल सूत्र	१
२. मंगल प्रतिज्ञा	३
३. एक गम्भीर पहेली	५
४. यह कैसी भ्रान्ति	८
५. एक महान् आश्चर्य	१०
६. दुःख हेतु-कर्म	११
७. अपना शत्रु मित्र स्वयं	१२
८. दैत्यराज मिथ्यात्व (अविद्या)	१४
९. लेने गये फूल, हाथ लगे शूल	१८
२. रत्नत्रय अधिकार	
(विवेक योग)	
१. सम्यक् योग—रत्नत्रय	१९
२. अभेद रत्नत्रय—आत्मा	२१
३. भेद रत्नत्रय	२२
३. समन्वय अधिकार	
(समन्वय योग)	
१. निश्चय व्यवहार ज्ञान समन्वय	२७
२. निश्चय व्यवहार चारित्र समन्वय	३१
३. ज्ञान कर्म समन्वय	३७
४. परम्परा मुक्ति	४०

क्रम	विषय	गाथांक
४.	**सम्यग्दर्शन अधिकार**	
	(जागृति योग)	
१.	सम्यग्दर्शन (तत्त्वार्थ दर्शन)	४३
२.	सम्यग्दर्शनकी सर्वोपरिप्रधानता	४५
३.	श्रद्धा सूत्र	४८
४.	सम्यग्दर्शनके लिंग (ज्ञानयोग)	५०
५.	निःशंकित्त्व (अभयत्व)	५२
६.	निःकांक्षित्त्व (निष्कामता)	५४
७.	निर्विचिकित्सत्त्व (अस्पृश्यता निवारण)	५८
८.	अमूढ़दृष्टित्त्व (स्व धर्म-निष्ठा)	६०
९.	उपगूहनत्व (अनहंकारत्त्व)	६१
१०.	उपवृंहणत्व (अदंभित्व)	६४
११.	स्थितिकरणत्व (ज्ञानयोगव्यवस्थिति)	६९
१२.	वात्सल्यत्व (प्रेमयोग)	७०
१३.	प्रशम भाव	७२
१४.	आस्तिक्य भाव	७४
१५.	प्रभावना करणत्व	७५
१६.	भाव संशुद्धि	७६
५.	**सम्यग्ज्ञान अधिकार**	
	(सांख्य योग)	
१.	सम्यग्ज्ञान सूत्र (अध्यात्म-विवेक)	७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	विषय	गाथांक
२.	निश्चय ज्ञान (अध्यात्म शासन)	८१
३.	जगत् मिथ्यात्व दर्शन	८४
४.	व्यवहार ज्ञान (शास्त्र ज्ञान)	८६
५.	निश्चय व्यवहार ज्ञान समन्वय	८९
६.	ज्ञानाभिमान निरसन	९२
७.	स्वानुभव ज्ञान	९३
८.	अध्यात्मज्ञान के लिंग	९५
९.	अध्यात्म ज्ञान चिन्तनिका	९८
(क)	अनित्य व अशरण संसार	१०१
(ख)	आत्माका एकत्व व अनन्यत्व	१०५
(ग)	देह-दोष-दर्शन	१०८
(घ)	आस्रव, संवर, निर्जरा भावना	
(घ)	लोक स्वरूप-चिन्तन	११०
(ङ)	वोधि दुर्लभता	११२
(च)	धर्म ही सुख	११५
६.	निश्चय चारित्र अधिकार (वुद्धि योग)	
१.	निश्चय चारित्र (समत्व)	११६
२.	महारोग रागद्वेष	११८
३.	रागद्वेष का प्रतिकार	१२१
४.	कषाय-निग्रह	१२२
५.	इन्द्रिय-जय	१२५
६.	समता सूत्र (स्थितप्रज्ञता)	१२७
७.	वैराग्य सूत्र (संन्यास-योग)	१३०
८.	परीषह-जय (तितिक्षा-सूत्र)	१३५
७.	व्यवहार चारित्र अधिकार (कर्मयोग)	
१.	व्यवहार चारित्र निर्देश	१३९
२.	मोक्षमार्ग में चारित्र (कर्म) का स्थान	१४०
३.	चारित्र (कर्म) में सम्यक्त्व व ज्ञान का स्थान	१४२
४.	कर्मयोग रहस्य	१४४
५.	अप्रमाद सूत्र	१५१
६.	शल्योद्धार	१५९
८.	आत्म-संयम अधिकार (विकर्म योग)	
१.	संयम सूत्र	१६२
२.	अनगार (साधु) व्रत सूत्र	१६३
३.	अहिंसा सूत्र	१६४
४.	सत्य सूत्र	१६८
५.	अस्तेय (अचौर्य) सूत्र	१७०
६.	ब्रह्मचर्य सूत्र	१७३
७.	परिग्रह-त्याग सूत्र	१७६
८.	सागार (श्रावक) व्रत सूत्र	१७९
९.	सामायिक सूत्र	१८७
१०.	समिति सूत्र (यतना सूत्र)	१९१
११.	गुप्ति (आत्म गोपन) सूत्र	१९८
१२.	मनो मौन	२००
१३.	युक्ताहार विहार	२०२
९.	तप व ध्यान अधिकार (राज योग)	
१.	तपोऽग्नि सूत्र	२०३
२.	अनशन आदि तप	२०८
३.	विविक्त-देश-सेवित्व	२१०
४.	कायक्लेश तप (हठयोग)	२१२
५.	प्रायश्चित्त तप	२१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	विषय	गाथांक
६.	विनय तप	२१६
७.	वैयावृत्य तप (सेवा योग)	२१९
८.	स्वाध्याय तप	२२२
९.	ध्यान-समाधि सूत्र	२२४
१०.	सल्लेखना मरण अधिकार (सातत्य योग)	
१.	आदर्श मरण	२३२
२.	देह त्याग	२३६
३.	अन्त मति सो गति	२३९
४.	सातत्य योग	२४०
११.	धर्म अधिकार (मोक्ष संन्यास योग)	
१.	धर्म सूत्र	२४२ क

क्रम	विषय	गाथांक
२.	सागार (श्रावक) सूत्र	२४८
३.	अनगार सूत्र (संन्यास योग)	२४९
४.	पूजा-भक्ति सूत्र	२५५
५.	गुरु उपासना	२६०
६.	दया सूत्र	२६२
७.	दान सूत्र	२६४
८.	यज्ञ सूत्र	२६६
९.	उत्तम क्षमा (अक्रोध)	२६७
१०.	उत्तम मार्दव (अमानित्व)	२७०
११.	उत्तम आर्जव (सरलता)	२७३
१२.	उत्तम शौच (सन्तोष)	२७५
१३.	उत्तम त्याग	२७९
१४.	उत्तम आकिंचन्य (कस्य स्विद्धनम्)	२८३

द्वितीय खण्ड

क्रम	विषय	गाथांक
१२.	द्रव्याधिकार (विश्वदर्शन योग)	
१.	लोक सूत्र	२८६
२.	जीव द्रव्य (आत्मा)	२८९
३.	पुद्गल द्रव्य (तन्मात्रा व महाभूत)	२९४
४.	आकाश द्रव्य	३०१
५.	धर्म व अधर्म द्रव्य	३०३
६.	काल द्रव्य	३०७
१३.	तत्त्वार्थ अधिकार	
१.	तत्त्व निर्देश	३०९

क्रम	विषय	गाथांक
२.	जीव अजीव तत्त्व	३१३
३.	आस्रव तत्त्व (क्रियमाणकर्म)	३१६
४.	संवर तत्त्व (कर्म निरोध)	३२०
५.	पुण्य पाप तत्त्व (दो बेड़ियाँ)	३२४
६.	बन्ध तत्त्व (संचित कर्म)	३२९
७.	निर्जरा तत्त्व (कर्म-संहार)	३३२
८.	मोक्ष तत्त्व (स्वतंत्रता)	३३६
९.	परमात्म तत्त्व	३४२
१४.	सृष्टि-व्यवस्था	
१.	स्वभाव कारणवाद (सत्कार्यवाद)	३४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	विषय	गाथांक
२.	पुद्गल कर्तृत्ववाद (आरम्भवाद)	३४९
३.	कर्म कारणवाद	३५२
१५.	अनेकान्त अधिकार (द्वैताद्वैत)	
१.	द्रव्य का स्वरूप	३६१
२.	विरोध में अविरोध	३६६
३.	वस्तु की जटिलता	३६९
४.	अनेकान्त निर्देश	३७२
५.	अनेकान्त की सार्वभौमिकता	३७४
६.	सापेक्षतावाद	३७६
१६.	एकान्त व नय अधिकार (पक्षपात निरसन)	
१.	नयवाद	३७९
२.	पक्षपात निरसन	३८२
३.	नयवाद की सार्वभौमिकता	३८८
४.	नय की हेयोपादेयता	३९२
५.	समन्वयवाद (नय योजना विधि)	३९५
१७.	स्याद्वाद अधिकार (सर्वधर्म समभाव)	
१.	सर्वधर्म समभाव	३९९
२.	स्याद्वाद-न्याय	४०२
३.	स्याद्वाद योजना-विधि	४०७
१८.	आम्नाय अधिकार	
१.	जैनधर्म की शाश्वतता	४०८
२.	देश-कालानुसार जैन धर्म में परिवर्तन	४१२
३.	दिगम्बर सूत्र	४१६
४.	श्वेताम्बर सूत्र	४१९
	परिशिष्ट	
१.	गाथानुक्रमणिका	पृ० १८५
२.	सैद्धान्तिक शब्द-कोश	पृ० १९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4535

१. मंगल-सूत्र

१. णमो अरहंताणं ।
णमो सिद्धाणं ।
णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

आवश्यक सूत्र । १.२   षट्खण्डागम । १.१

नमः अर्हद्भ्यः ।
नमः सिद्धेभ्यः ।
नमः आचार्येभ्यः ।
नमः उपाध्यायेभ्यः ।
नमः लोके सर्वसाधुभ्यः ।

अर्हन्तों को नमस्कार ।
सिद्धों को नमस्कार ।
आचार्यों को नमस्कार ।
उपाध्यायों को नमस्कार ।
लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार ।

(चत्तारि मंगलं)

२. अरहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

(चत्तारि लोगुत्तमा)

अरहंता लोगुत्तमा ।
सिद्धा लोगुत्तमा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहू लोगुत्तमा ।
केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।।

(चत्तारि सरणं पव्वज्जामि)

अरहंते सरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि ।
साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलीपण्णतं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।।

आवश्यक सूत्र । ४.१ तु०=भा० पा० । १२२

(चत्वारि मंगलम्)

अर्हन्तः मंगलम् ।
सिद्धाः मंगलम् ।
साधवः मंगलम् ।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः मंगलम् ।

(चत्वारि लोकोत्तमाः)

अर्हन्तः लोकोत्तमाः ।
सिद्धाः लोकोत्तमाः ।
साधवः लोकोत्तमाः ।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः लोकोत्तमः ।।

(चत्वारि शरणं प्रपद्ये)

अर्हतः शरणं प्रपद्ये ।
सिद्धान् शरणं प्रपद्ये ।
साधून् शरणं प्रपद्ये ।
केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।।

अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म, ये चारों ही मंगल हैं तथा लोक में उत्तम हैं। मैं इन चारों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १ :

मिथ्यात्व-अधिकार

(अविद्या योग)

मिथ्यात्व का ही यह दुर्लंघ्य प्रभाव है कि व्यक्ति को अपना हित नहीं भाता। दुःख को ही सुख मानते हुए वह न जाने कब से इस भवाटवी में भटक रहा है। ज्यों-ज्यों छूटने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों अधिक अधिक फँसता चला जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. मंगल प्रतिज्ञा

३. सुदपरिचिदाणुभूया, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

स० सा० । ४ तु०=ज्ञा० सा० । १५.२

श्रुतपरिचितानुभूता, सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा।
एकत्वस्योपलम्भः, केवलं न सुलभो विभक्तस्य॥

काम भोग व वन्ध की कथा तो इस लोक में सबकी सुनी हुई है, परिचित है और अनुभव में आयी हुई है। परन्तु निज स्वरूप में एक तथा अन्य सर्व पदार्थों से पृथक् ऐसे आत्म-तत्त्व की कथा ही यहाँ सुलभ नहीं है।

४. तं एयत्तविहत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥

—स० सा० । ५

तमेकत्वविभक्तं, दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं, स्खलेयं छलं न गृहीतव्यं॥

उस एकत्व तथा विभक्तस्वरूप पूर्वोक्त आत्म-तत्त्व को मैं अपने निज वैभव या अनुभव से दर्शाऊँगा। उसे सुनकर प्रमाण करना। तथा कहने में कहीं कुछ भूल जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। (क्योंकि उस अनन्त को पूरा कहने में कौन समर्थ है ?)

३. एक गम्भीर पहेली

५. सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला।
अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउ कामा॥

आचा० । २. ३.७ तु०=आ० अनु० । २

सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः, सुखास्वादाः दुःखप्रतिकूलाः।
अप्रियवधाः प्रियजीविनः, जीवितुकामाः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी प्राणियों को अपनी आयु प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं तथा दुःख से घवराते हैं। सभी को वध अप्रिय है और जीवन प्रिय। सभी जीना चाहते हैं। (परन्तु)

६. हा ! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥

मरण समा० । ५९० तु० = बा० अ० । २४

हा ! यथा मोहितमतिना, सुगति-मार्गमजानता।
भीमे भवकान्तारे, सुचिरं भ्रान्तं भयङ्करे ॥

हा ! मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म को नहीं जानता हुआ, यह मोहित-मति जीव अनादिकाल से इस भयंकर तथा भीम भव-वन में भटक रहा है।

७. सो णत्थि इहोगासो, लोए बालग्गकोडिमित्तोऽवि।
जम्मणमरणाबाहा, अणेगसो जत्थ ण य पत्ता ॥

मरण समा० । ५९४ तु० = बा० अ० । २६

सः नास्तीहावकाशो, लोके बालाग्रकोटिमात्रोऽपि।
जन्ममरणाबाधा, अनेकशो यत्र न च प्राप्ता ॥

इस लोक में बाल के अग्रभाग जितना भी कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ मैंने जन्म-मरण आदि अनेक बाधाएँ न उठायी हों।

४. यह कैसी भ्रान्ति

८. जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं ॥

प्र० सा० । ६४ तु० = अध्या० सा० । १८.६७

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो, व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥

जिन जीवों की विषयों में रति होती है, दुःख ही उनका स्वभाव है, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे विषय-भोग के प्रति व्यापार ही क्यों करते ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. जह निंबदुमुप्पण्णो, कीडो कडुयंपि मण्णए महुरं।
तह मुक्खसुहपरुक्खा, संसारदुहं सुहं बिंति ।।

मरण० समा० । ६५५ तु०=क० पा० । १ । गा० १२० । पृ० २७२

यथा निम्बद्रुमोत्पन्नः, कीटः कटुकमपि मन्यते मधुरम् ।
तथा परोक्षमोक्षसुखाः, संसार-दुःखं सुखं ब्रुवते ।।

जिस प्रकार नीम के वृक्ष में उत्पन्न कीड़ा उसके कड़ुवे स्वाद को भी मधुर मानता है, उसी प्रकार मोक्ष गत परमार्थ सुख से अनभिज्ञ प्राणी इस संसार-दुःख को ही सुख कहता है।

५. एक महान् आश्चर्य

१०. (क) दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु ।
अण्णे सत्ता पमोयंति, रागद्दोसवसं गया ।।

१०. (ख) एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं ण बुज्झामो, रागद्दोसऽग्गिणा जगं ।।

उत्तरा० । १४.४२-४३

दवाग्निना यथाऽरण्ये, दह्यमानेषु जन्तुषु ।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते, रागद्वेषवशंगताः ।।
एवमेव वयं मूढाः, कामभोगेषु मूर्च्छिताः ।
दह्यमानं न बुध्यामो, रागद्वेषाग्निना जगत् ।।

जिस प्रकार वन में अग्नि लग जाने पर उसमें जलते हुए जीवों को देखकर दूसरे जीव रागद्वेषवश प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित हम सब मूर्ख जन यह नहीं समझते कि (हम सहित) यह सारा संसार ही राग-द्वेषरूपी अग्नि में नित्य जला जा रहा है।

६. दुःख-हेतु—कर्म

११. जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं ।।

सू० कृ०। १.२.१.४ तुलना=रा० वा० । ५.२४.९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदिदं जगति पृथक् जनाः, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः।
स्वयमेव कृतैर्गाहन्ते, नो तस्य मुच्येतास्पृष्टः॥

इस संसार के समस्त प्राणी अपने ही कर्मों के द्वारा दुःखी हो रहे हैं। अन्य कोई भी सुख या दुःख देनेवाला नहीं है। कर्मों का फल भोगे विना इनसे छुटकारा सम्भव नहीं।

७. अपना शत्रु-मित्र स्वयं

१२. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहाधेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥

उत्तरा० । २०.३६

आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुधाधेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम्॥

आतमा ही वैतरणी नदी है और आतमा ही शालमली वृक्ष। आतमा ही कामधेनु है और आतमा ही नन्दन-वन।

१३. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिय॥

उत्तरा० । २०.३७

आत्मा कर्ता विकर्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रञ्च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः॥

आतमा ही अपने सुख व दुःख को सामान्य तथा विशेष रूप से करनेवाला है, और इसलिए वही अपना मित्र अथवा शत्रु है। सुकृत्यों में स्थित वह अपना मित्र है और दुष्कृत्यों में स्थित अपना शत्रु।

८. दैत्यराज मिथ्यात्व (अविद्या)

१४. मिच्छंतं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो॥

पं० सं० । १.६ तु०=उत्तरा । ७.२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्वं विदन् जीवो, विपरीतदर्शनो भवति।
न च धर्मं रोचते हि, मधुरं रसं यथा ज्वरितः ॥

मिथ्यात्व या अज्ञाननामक कर्म का अनुभव करनेवाला जीव (स्वभाव से ही) विपरीत श्रद्धानी होता है। जिस प्रकार ज्वरयुक्त मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता, उसी प्रकार उसे कल्याणकर धर्म भी नहीं रुचता है।

१५. सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि, य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥

स० सा० । २७५ तु०=अध्या० सा० । १२.४

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचयति, च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं, न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥

(और यदि कदाचित्) वह धर्म की श्रद्धा, रुचि या प्रतीति करे भी और उसका कुछ स्पर्श करे भी, तो (तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण) उसके लिए वह केवल भोग-निमित्तक ही होता है, कर्म-क्षय-निमित्तक नहीं।

वह सदा मनुष्यादिरूप देहाध्यासस्थ व्यवहार में मूढ़ बना रहता है[1]।

१६. हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ॥

उत्तरा० । ५.६

हस्तागता इमे कामाः, कालिता ये अनागताः।
को जानाति परं लोकं, अस्ति वा नास्ति वा पुनः॥

उसकी विषयासक्त बुद्धि के अनुसार वर्तमान के काम-भोग तो हस्तगत हैं और भूत व भविष्यत् के अत्यन्त परोक्ष। परलोक किसने देखा है? कौन जानता है कि वह है भी या नहीं?

---

१. दे० गा० । ८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि,
इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए॥

उत्तरा०। १४.१५

इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमाद्येत्॥

'यह वस्तु तो मेरे पास है और यह नहीं है। यह काम तो मैंने कर लिया है और यह अभी करना शेष है।' इस प्रकार के विकल्पों से लालायित उसको काल हर लेता है। कौन कैसे प्रमाद करे?

९. लेने गये फूल, हाथ लगे शूल

१८. भोगामिस दोसविसण्णे, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थो।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि॥

उत्तरा०। ८.५ तु०=प० प्र०। टी०। २.५७

भोगामिषदोषविषण्णः हितनिःश्रेयसबुद्धित्यक्तार्थः।
बालश्च मन्दकः मूढः, बध्यते मक्षिका इव श्लेष्मणि॥

भोगरूपी दोष में लिप्त व आसक्त होने के कारण, हित व निःश्रेयस (मोक्ष) की बुद्धि का त्याग कर देनेवाला, आलसी, मूर्ख व मिथ्यादृष्टि ज्यों-ज्यों संसार से छूटने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों कफ में पड़ी मक्खी की भाँति अधिकाधिक फँसता जाता है। ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: २ :

रत्नत्रय अधिकार

(विवेक योग)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही मोक्ष मार्ग है और यही परमार्थ योग है। परमार्थतः तीनों एक आत्मा ही है, अथवा परस्पर पूरक होने के कारण एक हैं। समझाने मात्र के लिए विश्लेषण पद्धति द्वारा इसे त्रिधा विभक्त रूप में दर्शाया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. सम्यक् योग-रत्नत्रय

१९. मणसा वाया कायेण वा वि जुत्तस्स वीरियपरिणामो।
जीवस्स-प्पणिजोगो, जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥

पं० सं० । १.८८

मनसा वचसा कायेन, वापि युक्तस्य वीर्य-परिणामः।
जीवस्य प्रणियोगः, योग इति जिनैर्निर्दिष्टः ॥

मन वचन व काय से युक्त जीव का वीर्य-परिणाम रूप प्रणियोग, 'योग' कहलाता है। (अर्थात् जीव का मानसिक, वाचिक व कायिक हर प्रकार का प्रयत्न या पुरुषार्थ योग शब्द का वाच्य है।)

२०. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥

यो० शा० । १.१५ तु०=प० प्र० । २.३

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ ही प्रधान है। योग उसका कारण है। ज्ञान, श्रद्धान व चारित्ररूप रत्नत्रय उसका स्वरूप है।

२. अभेद रत्नत्रय—आत्मा

२१. जो चरदि णादि पेच्छदि, अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं, दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥

पं० का । १६२ तु०=ज्ञा० सा० । १३.३

यश्चरति जानाति पश्यति, आत्मानमात्मनानन्यमयं।
स चारित्रं ज्ञानं, दर्शनमिति निश्चितो भवति ॥

जो आत्मा अनन्यस्वरूप निजात्मा को, आत्मा के द्वारा ही आचरता है, जानता है तथा देखता है, (इस हेतु से) वह आत्मा ही स्वयं ज्ञान, दर्शन व चारित्र सब-कुछ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. भेद–रत्नत्रय

२२. जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं, एसो दु मोक्खपहो ॥

स० सा० । १५५ तु०=उत्तरा० । २८.३५

जीवादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानं ।
रागादिपरिहरणं चरणं, एष तु मोक्षपथः ॥

जीवादि नव तत्त्वों[1] का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है तथा उनका सामान्य-विशेष रूप से अवधारण करना सम्यग्ज्ञान है । राग-द्वेष आदि दोषों का परिहार करना सम्यक्चारित्र है और ये तीनों मिलकर समुचित रूप से एक अखंड मोक्षमार्ग है ।

(ये तीनों वास्तव में पृथक्-पृथक् कुछ नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक होने के कारण एक ही हैं ।)

२३. जह णाम को वि पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥

२४. एवं हि जीवराया, णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण ॥

स० सा० । १७-१८ तु०=दे० आगे गा० २६

यथानाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥

जिस प्रकार कोई धनार्थी पुरुष राजा को पहले जानता है और उसकी श्रद्धा करता है; तत्पश्चात् वह उसका प्रयत्नपूर्वक अनुसरण करता है। इसी प्रकार मुमुक्षु को जीव या आतम-तत्त्व जानकर उसकी श्रद्धा करनी चाहिए । तत्पश्चात् उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करना चाहिए ।

---

१. दे० अधिकार १३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५. ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि ।।

प्र० सा० । २३७ तु०=दे० आगे गाथा ३७

न ह्यागमेन सिद्ध्यति, श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु ।
श्रद्दधान् अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ।।

तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा, रुचि, प्रेम या भक्ति के विना केवल शास्त्र-ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। और श्रद्धा या भक्ति हो जाने पर भी यदि संयम न पाला जाय अर्थात् प्रवृत्ति व निवृत्तिरूप शास्त्र-विहित कर्म न किया जाय तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं होता है[1]।

२६. इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाणमणुमए, रमेज्जा संजमे मुणी ।।

उत्तरा० । ३६.२५० तु०=दे० गा० २३-२४

इति जीवान् अजीवाँश्च, श्रुत्वा श्रद्धाय च ।
सर्वनयानामनुमते, रमते संयमे मुनिः ।।

इस प्रकार जीव और अजीव आदि तत्त्वों के स्वरूप को सुनकर तथा परमार्थ तथा व्यवहार आदि सभी दृष्टियों के अनुसार उनकी हृदय से श्रद्धा करके भिक्षु संयम में रमण करे।

१. दे० गा० ३७-३९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ३ :

समन्वय अधिकार

(समन्वय योग)

जैन-दर्शन समन्वयवादी है, अतः इसकी कथन-पद्धति में सदा परमार्थ व व्यवहार दोनों का सन्तुलन रहता है। मोक्ष-मार्ग के दो प्रधान अंग हैं—ज्ञान व चारित्र (कर्म)। ये दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं—निश्चय एवं व्यवहार। दोनों में ही निश्चय तो लक्ष्य या साध्य होता है और व्यवहार अभ्यास द्वारा उसे प्राप्त करने का साधन या कारण है—'हेतु नियत को होई।'

साधना के द्वारा धीरे-धीरे योगी की चित्त-शुद्धि होती जाती है, जिसके फलस्वरूप वह एक दिन समता की उस भूमि में प्रवेश कर जाता है, जहाँ ज्ञान व चारित्र दोनों एक हो जाते हैं। क्योंकि तत्त्व की शुद्ध अनुभूति ही उस समय ज्ञान कहलाती है और उसमें निश्चय स्थिति ही चारित्र है। यहाँ पहुँचने पर योगी के लिए अमृत-कुम्भ भी उपर्युक्त व्यवहार विषकुम्भ बनकर रह जाता है।

इस विषय में यहाँ इतना विवेक आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन युक्त आभ्यन्तर लक्ष्य से समवेत ही साधना-भूमि के सकल व्यावहारिक विकल्प कार्यकारी होते हैं; उसके बिना वे निरर्थक ही नहीं, बल्कि ज्ञानाभिमान के कारण बनकर प्रायः अनर्थक हो जाते हैं।

सम्यक्त्व-युक्त इस सत्य-साधना से योगी यदि कदाचित् उसी भव में मुक्त न भी हो सके तो भी वह साधना नष्ट नहीं होती है, और उसे देवों के सुख व मनुष्यों के उत्तम कुलों में जन्म लेने का हेतु बनकर वह उसे परम्परा से तीन-चार भवों में अवश्य मुक्त कर देती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. निश्चय-व्यवहार ज्ञान समन्वय

२७. ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।

स० सा० । ७ तु०=उत्तरा० । २८.३

व्यवहारेणुपदिश्यते, ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं, न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ।।

अभेद-रत्नत्रय में स्थित ज्ञानी के चरित्र है, दर्शन है या ज्ञान है, यह वात भेदोपचार (विश्लेषण) सूचक व्यवहार से ही कही जाती है। वास्तव में उस अखण्ड तत्त्व में न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है। वह ज्ञानी तो ज्ञायक मात्र है।

प्रश्न : विश्लेपणकारी इस व्यवहार का कथन करने की आवश्यकता ही क्या है ?

२८. जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ।।

स० सा० । ८ तु०=अध्या० सा० । १३.७

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना, परमार्थोपदेशनमशक्यम् ।।

उत्तरः—जिस प्रकार म्लेच्छ जनों को म्लेच्छ भाषा के विना कुछ भी समझाना शक्य नहीं है, उसी प्रकार तत्त्वमूढ साधारण जन को व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश देना शक्य नहीं है। (अर्थात् विश्लेषण किये विना प्राथमिक जनों को अद्वैत तत्त्व का परिचय कराना शक्य नहीं है।)

२९. ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।

स० सा० । ११ तु०=गा० ८५ (अध्या० सा० । १८.२८)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु, सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः॥

विश्लेषणकृत यह भेदोपचारी व्यवहार यद्यपि अभूतार्थ व असत्यार्थ है, और एकमात्र शुद्ध या निश्चय नय ही भूतार्थ है, जिसके आश्रय से जीव वास्तव में सम्यग्दृष्टि होता है।

३०. सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥

स०सा०। १२ तु०=दे० गा० ३३

शुद्धः शुद्धादेशो, ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिता पुनर्ये, त्वपरमे स्थिता भावे॥

(तदपि व्यवहार प्रयोजनीय है, क्योंकि) परमभावदर्शियों ने शुद्ध तत्त्व का आदेश चरम-भूमि में स्थित शुद्ध तत्त्वज्ञानी के लिए किया है, और व्यवहार का आदेश अपरमभावरूप निम्न भूमियों में स्थित साधक के लिए किया गया है।

२. निश्चय-व्यवहार चारित्र समन्वय

३१. णिच्छय सज्झसरूवं, सराय तस्सेव साहणं चरणं।
तम्हा दो विय कमसो, पढिज्जमाणं पबुज्झेदि॥

न० च०। ३२९ तु०=अध्या० सा०। ११.१४

निश्चयः साध्यस्वरूपः, सरागं तस्यैव साधनं चरणम्।
तस्माद् द्वे अपि क्रमशः, पठचमाने प्रबुध्यस्व॥

समता भाव रूप निश्चय चारित्र[1] साध्य है, और व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र[2] उसे प्राप्त करने का साधन है। क्रम से[3] अंगीकार किये गये ये दोनों ही व्यक्ति को प्रबुद्ध करने के लिए प्रयोजनीय हैं।

---

१. दे० गा० ११७; २. दे० गा० १६२
३. पहले साधन पुरुषार्थपूर्वक किया जाता है, फिर उसके फलस्वरूप साध्य स्वयं प्राप्त होता है। यही क्रम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३२. जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं, न निश्चयं ज्ञातुमुपैति शक्तिम्।
प्रभाविकाशेक्षणमन्तरेण, भानूदयं को वदते विवेकी॥

आराधना सार। ७.३०. तु०=अध्या० उप०। ३.१३

व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये विना जीव निश्चय मार्ग (अर्थात् अभेद रत्नत्रयभूत शुद्ध आत्मा) को जानने या अनुभव करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रभात होने से पहले सूर्य का उदित होना कौन विवेकी कह सकता है?

३३. अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा, योगिनां चित्तशुद्धये।
ज्ञानपाके शमस्यैव, यत्परैरप्यदः स्मृतं॥

अध्या० सा०। १५.२१ तु०=रत्नकरण्ड श्राव०। ४७-४८

योगी को चित्त-शुद्धि के लिए, अभ्यास-दशा में सत्क्रिया अर्थात् व्यवहार-चारित्र की अपेक्षा होती है। ज्ञान के परिपक्व हो जाने पर अर्थात् साक्षात् साम्यभाव की उपलब्धि हो जाने पर, प्रशान्त भाव रूप समता की ही अपेक्षा होती है, अन्य किसी क्रिया की नहीं। गीता में भी यही कहा है[1]।

(साधक-दशा में भी यदि वह व्यवहार-चारित्र का अवलम्वन नहीं लेता तो उसका अधःपतन निश्चित है[2]।)

३४. कर्मयोगं समभ्यस्य, ज्ञानयोगसमाहितः।
ध्यानयोगं समारुह्य, मुक्तियोगं प्रपद्यते॥

अध्या० सा०। १५.८३ तु०=द्र० सं० टीका। ३५। पृ० १४९

योगी कर्मयोग अर्थात् व्यवहार-चारित्र के अभ्यास द्वारा ज्ञान-योग में समाहित चित्त होकर, ध्यानयोग पर आरूढ़ हो, मुक्तियोग को प्राप्त कर लेता है। (व्यवहार व निश्चय का यह क्रम यथायोग्य रूप में सर्वत्र जानना चाहिए।)

---

१. गी०। ६-३; २. दे० गा० १५४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३५. जह वि णिरुद्धं असुहं सुहेण, सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण य, जोई झाएउ णिय आदं ।।

न० च० । ३४७ तु०—दे० गा० ३४

यथैव निरुद्धं अशुभं शुभेन, शुभमपि तथैव शुद्धेन ।
तस्मादनेन क्रमेण च योगी, ध्यायतु निजात्मानम् ।।

प्रारंभ में जिस प्रकार व्यवहारभूत शुभ प्रवृत्तियों के द्वारा अशुभ संस्कारों का निरोध हो जाता है, उसी प्रकार चित्त-शुद्धि हो जाने पर शुद्धोपयोग रूप समता के द्वारा उन शुभ संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। इस क्रम से योगी धीरे-धीरे आरोहण करता हुआ निजात्मा को ध्याने में सफल हो जाता है ।

३६. आलोयणादिकिरिया, जं विसकुंभेत्ति सुद्धचरियस्स ।
भणियमिह समयसारे, तं जाण सुएण अत्थेण ।।

न० च० । ३४५ तु०—अध्या० सा० । १५.५०

आलोचनादिक्रियाः, यद्विषकुम्भ इति शुद्धचरितस्य ।
भणितमिह समयसारे, तज्जानीहि श्रुतेनार्थेन ।।

आलोचना, प्रतिक्रमण आदि व्यावहारिक क्रियाओं को समयसार (ग्रन्थ की गा० ३०६) में शुद्ध चारित्रवान् के लिए विषकुम्भ कहा है। उसे राग की अपेक्षा ही विष-कुम्भ कहा है, ऐसा भावार्थ भी शास्त्र से जान लेना चाहिए[1] ।

३. ज्ञान-कर्म समन्वय

३७. हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ।।

वि० आ० भा० । ११५९ तु०—रा० वा० । १.१.४९

---

१. व्यावहारिक साधना के उपर्युक्त क्रम से आरोहण करता हुआ साधक धीरे-धीरे समता मयी उस उन्नत भूमि को प्राप्त हो जाता है, जहाँ न उसके लिए कुछ त्याज्य रहता है न ग्राह्य । व्यावहारिक क्रियाओं के सर्व विकल्प उसे विषकुम्भवत् प्रतीत होने लगते हैं। और यही है निश्चय चारित्ररूप साध्य भूमि की साक्षात् प्राप्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हताऽज्ञानतः क्रिया।
पश्यन् पंगुर्दग्धो, धावमानश्चान्धकः ॥

क्रिया-विहीन ज्ञान भी नष्ट है और ज्ञान-विहीन क्रिया भी[1]। नगर में आग लगने पर, पंगु तो देखता-देखता जल गया और अन्धा दौड़ता-दौड़ता।

३८. संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥

वि० आ० भा०। ११६५ तु०=रा० वा०। १.१.४९

संयोगसिद्धौ फलं वदन्ति, न खल्वेकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने समेत्य, तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥

संयोग सिद्ध हो जाने पर ही फल प्राप्त होते हैं। एक चक्र से कभी रथ नहीं चलता। न दिखने के कारण तो अन्धा और न चलने के कारण पंगु दोनों ही उस समय तक वन से बाहर निकल नहीं पाये, जब तक कि परस्पर मिलकर पंगु अन्धे के कन्धे पर नहीं बैठ गया। पंगु ने मार्ग बताया और अन्धा चला। इस प्रकार दोनों वन से निकलकर नगर में प्रविष्ट हो गये। (अन्तस्तल विशुद्धात्मा और बहिस्तत्त्व दया आदि धर्म, दोनों के मिलने पर ही मोक्ष होता है[2]।)

३९. भावस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यां, यच्चाकिञ्चित्करी क्रिया।
ज्ञानमेव क्रियायुक्तं, राजयोगस्तदिष्यताम् ॥

अध्या० उप०। ३.१० तु०=पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय। २१६

भाव-जगत् की साधना में यद्यपि क्रिया को अकिंचित्कर कहा गया है[3], परन्तु वहाँ भी सर्वथा क्रिया न होती हो ऐसा नहीं है, क्योंकि क्रियायुक्त ज्ञान को ही राजयोग नाम से अभिहित किया जाता है।

---

१. श्रद्धा या रुचि के बिना कोरा ज्ञान अथवा संयम के बिना कोरी श्रद्धा मोक्ष के हेतु नहीं हो सकते हैं (दे० गा० २५)।

२. दे० गा० २४३।

३. दे० गा० ३६ व १४७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. परम्परा-मुक्ति

४०. विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं॥
४१. भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया॥
४२. चउरंगं दुल्लहं णच्चा, संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए॥

उत्तरा० ।३।१३, १९, २० तु० = भ० आ० ।११४२-४५

विविग्धि कर्मणो हेतुं, यशः संचिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीरं हित्वा, ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्॥
भुक्त्वा मानुष्कान्भोगान्, अप्रतिरूपाण्यथायुषम्।
पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा, केवलं बोधिं बुद्ध्वा॥
चतुरंगं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य।
तपसाधूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः॥

धर्म-विरोधी कर्मों के हेतु (मिथ्यात्व, अविरति) आदि को दूर करके धर्म का आचरण करो और संयमरूपी यश को बढ़ाओ। ऐसा करने से इस पार्थिव शरीर को छोड़कर साधक देवलोक को प्राप्त होता है।

(काल पूर्ण होने पर वहाँ से चलकर मनुष्य गति में किसी उत्तम कुल में जन्म लेता है।)

वहाँ वह मनुष्योचित सभी प्रकार के उत्तमोत्तम सुखों को भोगकर पूर्वभावित धर्म के प्रभाव से सहज विशुद्ध बोधि को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रवण, श्रद्धा व संयम इन चार बातों को उत्तरोत्तर दुर्लभ जानकर वह संयम धारण करता है, तप से कर्मों का क्षय करता है, और इस प्रकार शनैः-शनैः शाश्वत गति को प्राप्त करने में सफल हो जाता है[1]।

---

१. और भी दे० गा० २६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ४ :

सम्यग्दर्शन अधिकार

(जागृति योग)

तत्त्वार्थ दर्शन का ही यह कोई अचिन्त्य प्रभाव है कि व्यक्ति निर्भय एवं निष्काम हो जाता है। उसका मिथ्या अहंकार गल जाता है और उसका निर्मल हृदय प्रशम, वैराग्य, अनुकम्पा एवं वात्सल्य आदि पवित्र भावों से छलक उठता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. सम्यग्दर्शन (तत्त्वार्थ दर्शन)

४३. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं य ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥

स० सा० । १३ तु०=उत्तरा० । २८.१७

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥

भूतार्थनय से जाने गये[1] जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध-मोक्ष ये नव तत्व[2] ही सम्यक्त्व हैं ।

(आत्मनिष्ठ सम्यग्दृष्टि है और पर्याय-निष्ठ मिथ्या-दृष्टि[3] ।)

४४. जं मोणं तं सम्मं जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥

साव० पण्ण० । ६१

यन्मौनं तत्सम्यक् यत्सम्यक् तदिह भवति मौनमिति ।
निश्चयतः इतरस्य तु सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि ॥

परमार्थतः मौन ही सम्यक्त्व है[4] और सम्यक्त्व ही मौन है । तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षणवाला व्यवहार सम्यक्त्व इसका हेतु है[5] ।

२. सम्यग्दर्शन की सर्वोपरि प्रधानता

४५. दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ ण सिज्झंति ॥

भक्त० परि०। ६६; द० पा०। ३

---

१. नव तत्त्वों में अनुगत एक जीव या आत्मतत्त्व का दर्शन करना ही, इन्हें भूतार्थ नय से जानना है; क्योंकि ये नौ तत्त्व वास्तव में उस आत्मा की ही पर्याय विशेष हैं, अन्य कुछ नहीं ।

२. नव तत्वों की व्याख्या के लिए दे० अधि० १३ ।

३. दे० गा० ८४ ।

४. नव तत्त्वों में अनुगत वह आत्म-तत्त्व मन वाणी से अगोचर तथा इतना निर्विकल्प है कि मौन के अतिरिक्त उसके दर्शन की अन्य कोई व्याख्या ही सम्भव नहीं है। दे० गा० २९१ ।

५. व्यवहार निश्चय का साधन है—दे० गा० ३१ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शनभ्रष्टो भ्रष्टः, भ्रष्टदर्शनस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिद्ध्यन्ति चरणरहिता, दर्शनरहिता न सिद्ध्यन्ति ॥

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति ही वास्तव में भ्रष्ट है, क्योंकि दर्शन-भ्रष्ट को तीन काल में भी निर्वाण सम्भव नहीं। चारित्रहीन तो कदाचित् सिद्ध हो भी जाते हैं, परन्तु दर्शनहीन कभी भी सिद्ध नहीं होते।

१. (सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति का शास्त्रज्ञान निरा शाब्दिक होता है। अर्थज्ञान-शून्य होने के कारण वह आराधना को प्राप्त न करके शास्त्रीय जगत् में ही भ्रमण करता है। इसलिए ऐसा ज्ञान मोक्षमार्ग में अकिंचित्कर है[1]।)

२. (आतमा को स्पर्श किये बिना शास्त्रज्ञान बालश्रुत है और अनेक-विध व्यवहार-चारित्र केवल बालचरित्र[2]।)

३. (भाव-शुद्धि के बिना कठोर तपश्चरण करने पर भी परिश्रम ही हाथ लगता है, शुद्धि नहीं[3]।)

४. (चित्त-शुद्धि ही वास्तविक सल्लेखना या समाधि मरण है, तृणमय संस्तर या प्रासुक भूमि नहीं[4]।)

५. (विशुद्धातमा साध्य है और अहिंसा-दया-दान आदि उसके साधन। दोनों के मिलने पर ही मोक्ष होता है। सम्यक्त्व-युक्त होने पर ही ये सब मोक्ष के कारण हैं, अन्यथा तो संसार में रुलाने-वाले हैं[5]।)

४६. सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥

४७. सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥

द० पा० । १५-१६ तु०=पिण्ड निर्युक्ति । ९१

१. दे० गा० ८९; २. दे० गा० १४२; ३. दे० गा० २०४; ४. दे० गा० २३७; ५. दे० गा० २४३-२४५;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वात् ज्ञानं, ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः ।
उपलब्धपदार्थे पुनः, श्रेयाऽश्रेयो विजानाति ॥
श्रेयाऽश्रेयवेत्ता उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि ।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥

[इसका कारण यह है कि] सम्यक्त्व से ज्ञान उदित होता है और ज्ञान से तत्त्वों की यथार्थ उपलब्धि। तत्त्वोपलब्धि हो जाने पर हिताहित का विवेक होता है, जिससे स्वच्छन्द भी पुण्यवन्त हो जाता है। पुण्य के प्रभाव से देवों व मनुष्यों का सुख तथा उससे यथाकाल[1] निर्वाण की प्राप्ति होती है।

३. श्रद्धा-सूत्र

४८. जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं, सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥
द० पा० । २२

यं शक्नोति तं क्रियते, यच्च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम् ।
केवलिजिनैः भणितं, श्रद्धावानस्य सम्यक्त्वम् ॥

यदि समर्थ हो तो संयम तप आदि का पालन करो, और यदि समर्थ न हो तो केवल तत्त्वों की श्रद्धा ही करो, क्योंकि श्रद्धावान् को सम्यक्त्व होता है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

४९. यत्रैवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते ॥
स० श० । ९५

[कारण यह कि] जिस विषय में व्यक्ति की बुद्धि स्थित होती है, उसमें ही श्रद्धा उत्पन्न होती है; अन्यत्र नहीं। और जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, उसीमें चित्त लीन होता है; अन्यत्र नहीं।

---

१. दे० गा० ४०–४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. सम्यग्दर्शन के लिंग (ज्ञानयोग)

५०. निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिदीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ।।

उत्तरा०। २८.३५; मू० आ०। २०१. (५.४)

निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्स्यममूढदृष्टिश्च।
उपवृंहास्थितिकरणे वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ ।।

सम्यग्दर्शन के ये आठ गुण या अंग हैं—निःशंकित्व, निःकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपवृंहणत्व (उपगूहनत्व), स्थिति-करणत्व, वात्सल्यत्व तथा प्रभावनाकरणत्व। (इन सबके लक्षण आगे क्रम से कहे जानेवाले हैं।)

५१. संवेओ णिव्वेओ, णिंदा गरुहा व उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपां, गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स ।।

स० सा०। १७७ में उद्धृत प्रक्षेपक तु०=उत्तरा०। २.२

संवेगो निर्वेदो, निन्दा गर्हा च उपशमो भक्तिः।
वात्सल्यं अनुकम्पा, अष्ट गुणाः सम्यक्त्वयुक्तस्य ।।

संवेग, निर्वेद (वैराग्य), अपने दोषों के लिए आत्मनिन्दन व गर्हण, कषायों की मन्दता, गुरु-भक्ति, वात्सल्य, व दया। (पूर्वोक्त आठ के अतिरिक्त) सम्यग्दृष्टि को ये आठ गुण भी स्वभाव से ही प्राप्त होते हैं।

५. निःशंकित्व (अभयत्व)

५२. सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।

स० सा०। २२८ तु०=ज्ञा० सा०। १७.८

सम्यग्दृष्टयो जीवा, निश्शंकाः भवन्ति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ।।

सम्यग्दृष्टि जीव निश्शंक होते हैं और इसलिए निर्भय। चूँकि उन्हें सात भय नहीं होते, इसलिए वे निश्शंक होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५३. सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा-इहलोगभए, परलोगभए।
आदाणभए अकम्हाभए,आजीवभए,मरणभए असिलोगभए।।

समवायांग। ७.१ तु०=मू० आ०। ५३

सप्त भयस्थानानि प्रज्ञप्तानि, स यथा—इहलोकभय परलोकभय।
आदानभय अकस्मात्भय, आजीविकाभय मरणभय अयशलोकभय।।

भयस्थान सात प्रकार के कहे गये हैं, यथा—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात् भय, आजीविका भय, मरण भय, अपयश भय। (ये सातों भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होते हैं।)

६. निःकांक्षित्व (निष्कामता)

५४. स्वभावलाभात् किमपि, प्राप्तव्यं नावशिष्यते।
इत्यात्मैश्वर्य-सम्पन्नो, निःस्पृहो जायते मुनिः।।

ज्ञान० सा०। १२.१ तु०=नि० सा०। ३८

आतम-स्वभाव का लाभ हो जाने पर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता, इसलिए आत्मारूपी ऐश्वर्य से सम्पन्न मुनि निःस्पृह हो जाता है।

५५. तिविहा य होइ कंखा, इह परलोए तथा कुधम्मे य।
तिविहं पि जो ण कुज्जा, दंसणसुद्धीमुपगदो सो।।

मू० आ०। २४९ (५.६७) तु०=उत्तरा०। १९.९३

त्रिविधा च भवति कांक्षा, इह परलोके तथा कुधर्मे च।
त्रिविधमपि यः न कुर्यात्, दर्शनशुद्धिमुपगतः सः।।

कामना तीन प्रकार की होती है—इह-लोक विषयक, परलोक विषयक तथा स्वधर्म को छोड़कर कुधर्म या परधर्म के ग्रहण विषयक[1]। जो इनमें से किसी भी प्रकार की आकांक्षा या कामना नहीं करता, वह सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त हो गया है, ऐसा समझो। (इसके अतिरिक्त उसे ख्याति-लाभ-प्रतिष्ठा की भी कामना नहीं होती[2]।)

---

१. सम्यग्दृष्टि किसी भी हेतु से अपने धर्म से च्युत नहीं होता। दे० गा० ६०।
२. दे० गा० ६४—६६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५६. अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सत्तपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम्॥

आ० अनु० । १८९ तु०=भक्त० परि० । १३८

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि तू इन दोनों का फल यहाँ सम्पत्ति व प्रतिष्ठा आदि के रूप में प्राप्त करना चाहता है, तो समझ कि विवेकहीन होकर तू उस तपरूपी वृक्ष का छेद कर रहा है। तव उसके रसीले फल को तू कैसे प्राप्त कर सकेगा?

५७. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।

उत्तरा०। ३२.९ तु०=ज्ञा०। १७.१२

कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः॥

कामानुगृद्धि ही दुःख की जननी है, इसीसे इहलोक में या देवलोक में जितने भी शारीरिक व मानसिक दुःख हैं, वीतरागी उन सबका अन्त कर देते हैं। अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त हो जाने के कारण उन्हें कामनाजन्य दुःख नहीं रहता।

७. निर्विचिकित्सत्व (अस्पृश्यता-निवारण)

५८. जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वा॥

स० सा०। २३१ तु=उत्तरा०। ३२.२१-२५

जो न करोति जुगुप्सं, चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां।
स खलु निर्विचिकित्सः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो जीव वस्तु के मनोज्ञामनोज्ञ धर्मों में अथवा व्यक्ति के कुल, जाति व सम्प्रदाय आदि रूप विविध धर्मों में ग्लानि नहीं करता, उसे विचिकित्साविहीन सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

५९. एक्कु करे मं बिण्णि करि, मं करि वण्ण विसेसु।
इक्कइँ देवइँ जें वसइ, तिहुयणु एहु असेसु॥

प० प्र०। २.१०७ तु०=आचारांग। १.२.३ सूत्र १–३

एकं कुरु मा द्वौ कार्षीः मा कार्षीः वर्णविशेषम्।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतत् अशेषम्॥

हे आत्मन्! तू जाति की अपेक्षा सब जीवों को एक जान। इसलिए राग और द्वेष मत कर। अभेद नय से त्रिलोकवर्ती सकल जीव-राशि शुद्धात्मस्वरूप होने के कारण समान हैं। (उच्च जाति का गर्व मत कर[१]।)

८. अमूढ़दृष्टित्व (स्व-धर्म-निष्ठा)

६०. मायावुइममेयं तु, मुसाभासा णिरत्थिया।
संजममाणो वि अहं, वसामि इरियामि य॥

उत्तरा०। १८.२६ तु०=का० अ०। ४१८

मायोदितमेतत् तु, मृषाभाषा निरर्थिका।
सयच्छन्नप्यहम्, वसामि ईर्यायां च॥

(अपने-अपने पक्ष का पोषण करने में रत अनेक मत-मतान्तर लोक में प्रचलित हैं) ये सब मायाचारी हैं और इनकी वाणी मिथ्या व निरर्थक है[२]। उनके कथन को सुनकर भी मैं भ्रम में नहीं पड़ता। संयम में स्थित रहता हूँ तथा यतनापूर्वक चलता हूँ[३]।

---

१. दे० गा० २७२।
२. विशेष दे० गा० ३८१—३८४।
३. विशेष दे० गा० १५१-१५२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. उपगूहनत्व (अनहंकारत्व)

६१. णो च्छायए णो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण यासियावाय वियागरेज्जा

सू० कृ० । १४.१९ तु०=का० अ० । ४१९

नो छादयेन्नापि च लूषयेद्, मानं न सेवेत् प्रकाशनं च।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्, न चाशीर्वादं व्यागृणीयात् ।।

सम्यग्दृष्टि पुरुष न तो सूत्र के अर्थ को छिपाता है, और न स्व-पक्ष पोपणार्थ उसका अन्यथा कथन करता है। वह अन्य के गुणों को छिपाता नहीं और न ही अपने गुणों का गर्व करके अपनी महत्ता का वखान करता है। स्वयं को प्रज्ञावन्त जानकर वह अन्य का उपहास नहीं करता और न ही अपना गौरव जताने के लिए किसीको आशीर्वाद देता है।

६२. जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भवदि, अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं ।।

का० अ० । ३१३ तु०=सू० कृ० । १.१३-१५

यः न च कुरुते गर्वं, पुत्रकलत्रादिसर्वार्थेषु।
उपशमभावे भावयति, आत्मानं जानाति तृणमात्रं ।।

जो सम्यग्दृष्टि पुत्र कलत्रादि किसी का भी गर्व नहीं करता और अपने को तृण के समान मानता है, उसे उपशम-भाव होता है[१]।

६३. विरलो अज्जदि पुण्णं, सम्मदिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहिदो, णिंदण गरहाहि संजुत्तो ।।

का० अ० । ४८ तु०=उत्तरा० । २९.६-७

विरलः अर्जयति पुण्यं, सम्यग्दृष्टिः व्रतैः संयुक्तः।
उपशमभावेनसहितः, निन्दनगर्हाभ्यां संयुक्तः ।।

---

१. सम्यग्दृष्टि को ज्ञान तप आदि का भी मद नहीं होता। दे० गा० २७०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रत, संयम आदि से युक्त कोई विरला सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसे पुण्य का उपार्जन करता है कि उपशम भाव में स्थित रहता हुआ सदा अपने दोषों के लिए आत्म-निन्दन व आत्म-गर्हण करता है।

१०. उपबृंहणत्व (अदम्भित्व)

६४. नो सक्कियमिच्छई न पूयं, नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं ?
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ।।

उत्तरा०। १५.५ तु०=चारित्रसार। १५०

न सत्कृतमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ?
सः संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः ।।

जो सत्कार तथा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं करता, नमस्कार तथा वन्दना आदि की भावना नहीं करता, उसके लिए प्रशंसा सुनने का प्रश्न ही कहाँ ? वह संयत है, सुव्रत है, तपस्वी है, आत्म-गवेषक है और वही भिक्षु है।

६५. तेसिं वि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जन्नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ।।

सू० कृ०। १.८.१.२४ तु०=रा० वा० ९.१९.१६

तेषामपि तपो न शुद्धं, निष्क्रान्ता ये महाकुलाः ।
यन्नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोकं प्रवेदयेत् ।।

उनका तप शुद्ध नहीं है जो इक्ष्वाकु आदि बड़े कुलों में उत्पन्न होकर दीक्षित होने के कारण अभिमान करते हैं और लोक-सम्मान के लिए तप करते हैं। अतएव साधु को ऐसा तप करना चाहिए कि दूसरों को उसका पता ही न चले, जिसमें इहलोक व परलोक की आशंसा न हो। उसे अपनी प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए।

६६. घोडगलिंडसमाणस्स, तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से, काहिदि वगणिहुदकरणस्स ।।

भ० आ०। १३४७ तु०=उत्तरा। २०.४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घोटकलिंडसमानस्य, तस्याभ्यन्तरे कुथितस्य ।
बाह्यकरणं किं तस्य, करिष्यति बकनिभृतकरणस्य ।।

वगुले की चेष्टा के समान अन्तरंग में जो कषाय से मलिन है, ऐसे साधु की वाह्य क्रिया किस काम की? वह तो घोड़े की लीद के समान है, जो ऊपर से चिकनी और भीतर से दुर्गन्धयुक्त होती है।

६७. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।
विंयाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ।।

दशवै० । ९.३.११ तु०=स० सा० । २०१-२०२

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः, गृहाण साधूगुणान् मुञ्च असाधून् ।
विज्ञाय आत्मानमात्मना, यो रागद्वेषयोः समः स पूज्यः ।।

गुणों से ही (मनुष्य) साधु होता है और दुर्गुणों से असाधु। अतः सद्‌गुणों को ग्रहण करो और दुर्गुणों को छोड़ो। जो आत्मा द्वारा आत्मा को जानकर राग-द्वेष दोनों में सम रहता है, वही पूज्य है। (झूठी प्रशंसा पानेवाला दम्भाचारी नहीं।)

६८. तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ।।

उत्तरा० । १०.३४ तु०=रा० वा० । ६.२४१; पु० सि० उ० । २७

तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं, किं पुनः तिष्ठसि तीरमागतः ।
अभित्वर पारं गन्तुम्, समयं गौतम ! मा प्रमादये ।।

तू इस विशाल संसार-सागर को तैर चुका है। (गोखुर में डूबने की भाँति) अब किनारा हाथ आ जाने पर भी (झूठी मान-प्रतिष्ठा मात्र के लिए) क्यों अटक रहा है? शीघ्र पार हो जा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

११. स्थितिकरणत्व (ज्ञानयोग व्यवस्थिति)

६९. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडि साहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ।।

दशवै० चलिका । २.१४ तु०=स० सा० । २३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्तं, कायेन वाचाऽथवा मानसेन ।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्, आकीर्णः क्षिप्रमिव खलिनम् ।।

जिस प्रकार जातिवान् घोड़ा लगाम का संकेत पाते ही विपरीत मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग पर चलने लगता है, उसी प्रकार धैर्यवान् साधु जब कभी अपने मन वचन काय को असद् मार्ग पर जाता हुआ देखता है, तो तत्काल ही वह उनको वहाँ से खींचकर सन्मार्ग में प्रतिष्ठित कर देता है ।

१२. वात्सल्यत्व (प्रेमयोग)

७०. जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पिय वयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ।।

का० अ० । ४२१

यः धार्मिकेषु भक्तः, अनुचरणं करोति परमश्रद्धया ।
प्रियवचनं जल्पन्, वात्सल्यं तस्य भव्यस्य ।।

जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धा से धर्मी जनों में प्रमोदपूर्ण भक्ति रखता है, तथा उनके अनुसार आचरण करता है,[1] उस भव्य जीव के वात्सल्य गुण कहा गया है ।

७१. सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

सामा० पाठ । १

सब जीवों में मेरी मैत्री हो, गुणीजनों में प्रमोद हो, दुःखी जीवों के प्रति दया हो और धर्म-विमुख विपरीत वृत्तिवालों में माध्यस्थ भाव । हे प्रभो ! मेरी आत्मा सदा (प्रेम व वात्सल्य के अंगभूत) इन चारों भावों को धारण करे ।

---

१. गुरु विनय का महत्त्व—दे० गा० २१७ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३. प्रशम भाव (चित्त-प्रसाद)

७२. चत्तारि कसाए तिन्नि गारवे पंचइंदियग्गामे ।
जिणिउं परीसहसहेऽवि य हराहि आराहणपडागं ।।

७३. मित्तसुयबंधवाइसु इट्ठाणिट्ठेसु इंदियत्थेसु ।
रागो वा दोसो वा ईसि मणेणं ण कायव्वो ।।

मरण० समा० । ३१४, ४०७ तु०=मू० आ० । (८।११४-११७)

चतुरः कषायान् त्रीणि गौरवानि पंचेन्द्रियग्रामान् ।
जित्वा परीषहानपि च हराराधनापताकाम् ।।
मित्रसुतबान्धवादिषु इष्टानिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु ।
रागो वा द्वेषो वा ईषदपि मनसा न कर्त्तव्यः ।।

क्रोधादि चार कषायों को, रस ऋद्धि व सुख इन तीन गारवों को, पाँचों इन्द्रियों को तथा अनुकूल व प्रतिकूल विघ्नों को व संकटों को जीतकर, साथ ही आराधनारूपी पताका को हाथ में लेकर, मित्र पुत्र व बन्धु आदि में तथा इष्टानिष्ट इन्द्रिय विषयों में किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष करना कर्तव्य नहीं है ।

१४. आस्तिक्य भाव

७४. अर्थोऽयमपरोऽनर्थ, इति निर्द्धारणं हृदि ।
आस्तिक्यं परमं चिह्नं, सम्यक्त्वस्य जगुर्जिनाः ।।

अध्या० सा० । १२.५७ तु=पं० ध० । उ० । ४५२

'यह अर्थ है और यह अनर्थ है', हृदय में इस प्रकार दृढ़ निर्धारण करना, सम्यग्दर्शन का आस्तिक्य नामक परम चिह्न है ।

१५. प्रभावनाकरणत्व

७५ धम्मकहाकहणेण य, बाहिरजोगेहिं चावि णवज्जेहिं ।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकंपाए ।।

मू० आ० । २६४ (५.८२)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मकथाकथनेन च, बाह्ययोगैश्चापि अनवद्यैः।
धर्मः प्रभावयितव्यः जीवेषु दयानुकम्पया ॥

धर्मोपदेश के द्वारा, अथवा स्व-परोपकारी शुभ क्रियाओं के द्वारा, अथवा जीवों में दया व अनुकम्पा के द्वारा (उपलक्षण से प्रेम, दान व सेवा आदि के द्वारा) धर्म की प्रभावना करना कर्तव्य है।

१६. भाव-संशुद्धि

७६. मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥

नि० सा०। ११२ तु=उत्तरा०। २९.३६

मदमानमायलोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति।
परिकथितो भव्यानां, लोकालोकप्रदर्शिभिः ॥

लोकालोकदर्शी सर्वज्ञ भगवान् ने, भव्यों के मद मान माया व लोभविवर्जित निर्मल भाव को भाव-शुद्धि कहा है।

७७. मनः शुद्धिमबिभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥

योगशास्त्र। ४.४२ तु०=आ० अनु०। २१३

मन की शुद्धि को प्राप्त किये विना जो अज्ञ जन मोक्ष के लिए तप करते हैं, वे नाव को छोड़कर महासागर को भुजाओं से तैरने की इच्छा करते हैं। (अर्थात् बिना चित्त-शुद्धि के मोक्ष-मार्ग में गमन सम्भव नहीं।)

(भाव से विरक्त व्यक्ति जल में कमलवत् अलिप्त रहता है[1]।)

७८. अब्भंतरसोधीए, बाहिर सोधी वि होदि णियमेण।
अब्भंतरदोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥

भ० आ०। १९१६ तु०=पिण्ड निर्युक्ति। ५३०

---

१. दे० गा० १३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यन्तरशुद्धेः, बाह्यशुद्धिरपि भवति नियमेन ।
अभ्यन्तरदोषेण हि, करोति नरः बाह्यान् दोषान् ।।

अभ्यन्तर शुद्धि के होने पर बाह्य शुद्धि नियम से होती है। अभ्यन्तर परिणामों के मलिन होने पर मनुष्य शरीर व वचन से अवश्य ही दोष उत्पन्न करता है।

(तात्पर्य यह कि निःशंकित या अभयत्व आदि भावों से युक्त चित्त-शुद्धि का हो जाना ही सम्यग्दर्शन का प्रधान चिह्न है।) ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ५ :

सम्यग्ज्ञान अधिकार

(सांख्य योग)

आत्मा के अतिरिक्त देह आदि समस्त जागतिक पदार्थों को अनित्य, असत्य, संयोगज, अशरण व दुःख के हेतु जानकर, वैराग्य व समतायुक्त हो उनका ममत्व त्यागकर, आत्मा व धर्म की शरण को प्राप्त होनेवाला ही सम्यग्ज्ञानी है, अपने-अपने पक्ष का पोषण करने में रत ज्ञानाभिमानी तथाकथित शास्त्रज्ञ या पण्डित नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. सम्यग्ज्ञान-सूत्र (अध्यात्म विवेक)

७९. संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं, सायारमणेयभेयं तु ।।

द्र० सं० । ४२ तु०=दे० अगली गाथा ८०

संशयविमोहविभ्रमविर्वाजतं आत्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं, साकारमनेकभेदं च ।।

आत्मा व अनात्मा[1] के स्वरूप को संशय, विमोह, विभ्रमरहित जानना सम्यग्ज्ञान है, जो सविकल्प व साकार रूप होने के कारण अनेक भेदोंवाला होता है ।

८०. भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो, विभिन्नाः पुद्गलाः अपि ।
शून्यः संसर्ग इत्येवं, यः पश्यति स पश्यति ।।

अध्या० सा० । ८.२१ तु०=दे० गा० ७९

प्रत्येक आत्मा तथा शरीर मन आदि सभी पुद्गल भी परस्पर एक-दूसरे से भिन्न हैं । देह व जीव का अथवा पिता पुत्रादि का संसर्ग कोई वस्तु नहीं है । जो ऐसा देखता है वही वास्तव में देखता है ।

२. निश्चय ज्ञान (अध्यात्म शासन)

८१. जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।

स० सा० । १५ तु०=अध्या० सा० । १८.२

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषं ।
अपदेशसूत्रमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वम् ।।

जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य व अविशेष देखता है, वह शास्त्र-ज्ञान के रूप में अथवा भाव-ज्ञान के रूप में सकल जिन-शासन को देखता है ।

---

१. आत्मा चेतन स्वभावी व अमूर्तिक है, तथा देह, मन, वाणी, राग-द्वेषादि सर्व विकारी भाव और कर्म जड़ स्वभावी पुद्गल (अनात्मा) हैं । दे० गा० २९८-३०० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८२. जो एगं जाणइ, सो सव्वं जाणइ ।
जो सव्वं जाणइ, सो एगं जाणइ ॥

आचा० । ३.४.२ तु०=दे० अगली गा० ८३

यः एकं जानाति, सः सर्वं जानाति ।
यः सर्वं जानाति, सः एकं जानाति ॥

जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

८३. एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावाः एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥

नय चक्र गद्य । ३—६८ में उद्धृत तु०=दे० पिछली गा० ८२

(द्रव्य के परिवर्तनशील कार्य 'पर्याय' कहलाते हैं।[1]) जिस प्रकार 'मृत्तिका' घट, शराब व रामपात्रादि अपनी विविध पर्यायों या कार्यों के रूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं, इसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्य[2] अपनी-अपनी त्रिकालगत पर्यायों का पिंड ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं।[3]

जिस प्रकार घट, शराब आदि उत्पन्न ध्वंसी विविध कार्य तत्त्वतः उनमें अनुगत एक मृत्तिकारूप ही है, अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार उत्पन्न ध्वंसी समस्त दृष्ट पर्याय या कार्य भूत पदार्थ तत्त्वतः उनमें अनुगत कोई एक मूल द्रव्यरूप ही है, अन्य कुछ नहीं।

जिस प्रकार एक मृत्तिका को तत्त्वतः जान लेने पर उसकी समस्त पर्याय या घट, शराब आदि कार्य भी जान लिये जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी एक मूलभूत द्रव्य को तत्त्वतः जान लेने पर उसकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्याय या कार्य भी जान लिये जाते हैं।

---

१. दे० गा० ३६१ । २. जैन दर्शन अनेक सत्तावादी है ।
३. दे० गा० ३६४ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. जगत्-मिथ्यात्व दर्शन

८४. जे पज्जयेसु णिरदा, जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ट्ठिदा, ते सगसमया मुणेदव्वा ।।

प्र० सा० । ९४ तु०=अध्या० उप० । २.२६

ये पर्यायेषु निरता जीवाः, परसमयिका इति निर्दिष्टाः ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते, स्वकसमया मन्तव्याः ।।

पर्यायों में[1] रत जीव परसमय[2] अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहे गये हैं और आत्मस्वभाव में स्थित स्व-समय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जानने योग्य हैं।

८५. यथा स्वप्नोऽवबुद्धोऽर्थो, विबुद्धेन न दृश्यते ।
व्यवहारमतः सर्गो, ज्ञानिना न तथेक्ष्यते ।।

अध्या० सा० । १८.२८ तु०=गा० २९ (स० सा० । ११)

जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थ जागृत व्यक्ति को दिखाई नहीं देते हैं, उसी प्रकार व्यवहार बुद्धि से देखे गये जगत् की इच्छा ज्ञानी को नहीं होती[3] ।

[व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चय नय भूतार्थ। निश्चय दृष्टि के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[4]]

४. व्यवहार ज्ञान (शास्त्रज्ञान)

८६. सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरंमि पडिआवि ।
जीवोऽवि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओवि संसारे ।।

भक्त० परि० । ८६ तु०=सूत्रपाहुड । ३-४

सूची यथा ससूत्रा न नश्यति कचवरे पतिताऽपि।
जीवोऽपि तथा ससूत्रो, न नश्यति गतोऽपि संसारे ।।

---

१. उत्पन्न ध्वंसी कार्य—दे० गा० ३६१ । २. मिथ्यादृष्टि ।

३. जगत् के समस्त पदार्थ उत्पन्न ध्वंसी पर्याय स्वरूप होने के कारण स्वप्नतुल्य तथा व्यावहारिक हैं। परमार्थ तत्त्व तो इनमें अनुगत हैं। दे० गा० ३६५ । ४. दे० गा० २९ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्रज्ञान का कोई मूल्य ही नहीं। उसके उपकार को किसी प्रकार भी भुलाया नहीं जा सकता।]

जिस प्रकार डोरा पिरोयी सूई कचरे में पड़ जाने पर भी नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानयुक्त जीव संसार में रहता हुआ भी नष्ट नहीं होता।

८७. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

दशवै०। ४.११ तु०=सूत्र० पा०। ५-६

श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥

शास्त्र सुनने से ही श्रेय व अश्रेय का ज्ञान होता है। सुनकर जब ये दोनों जान लिये जाते हैं, तब ही व्यक्ति अश्रेय को छोड़कर श्रेय का आचरण करता है।

८८. अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रिमथितागमोदधेः।
भूयांसि गुणरत्नानि, प्राप्यन्ते विबुधैर्न किम्॥

अध्या० सा०। १.२०

अध्यात्म-शास्त्र रूपी मन्दराचल से आगमोदधि का मंथन करने पर पण्डित जन अनेक गुण-रत्नों को आदि लेकर क्या कुछ प्राप्त नहीं कर लेते?

५. निश्चय व्यवहार ज्ञान-समन्वय

[यद्यपि शास्त्रज्ञान की महिमा का वर्णन कर दिया, तथापि इस विषय में इतना विवेक रखना आवश्यक है—]

८९. सम्मत्तरयणभट्ठा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया, भमंति तत्थेव तत्थेव॥

द० पा०। ४ तु०=अध्या० उप०। २.४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिताः भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ।।

सम्यक्त्व-रत्न से भ्रष्ट व्यक्ति केवल शब्दों को ही पढ़ता है। इसलिए अनेकविध शास्त्र व वेद-वेदांग आदि पढ़ लेने पर भी वह उनके अर्थज्ञान से शून्य ही रह जाता है। आराधना से रहित वह शास्त्रीय जगत् में ही भ्रमण करता रहता है, (और आध्यात्मिक जगत् के दर्शन कर नहीं पाता)।

९०. सुत्तं अत्थनिमेणं, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थगई उण णयवाय-गहणलीणा दुरभिगम्मा ।।

९१. तम्हा अहिगयसुत्तेण, अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं ।
आयरियधीरहत्था, हंदि महाणं विलंबेन्ति ।।

सन्मति तर्क। ३.६४-६५ तु०=प० प्र०। २.८४, का० अ०। ४६६

सूत्रमर्थनिमेणं न सूत्रमात्रेणार्थप्रतिपत्तिः।
अर्थगतिः पुनः नयवादग्रहणलीना दुरभिगम्या ।।
तस्मादधिगतसूत्रेणार्थसम्पादने यतितव्यम् ।
आचार्याः धीरहस्ताः, हन्त महाज्ञां विडम्बयन्ति ।।

इसमें सन्देह नहीं कि सूत्र (शास्त्र) अर्थ का स्थान है, परन्तु मात्र सूत्र से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। अर्थ का ज्ञान विचारणा व तर्कपूर्ण गहन नयवाद पर अवलम्वित होने के कारण दुर्लभ है।

अतः सूत्र का ज्ञाता अर्थ प्राप्त करने का प्रयत्न करे, क्योंकि अकुशल एवं धृष्ट आचार्य (शास्त्र को पक्ष-पोषण का तथा शास्त्र-ज्ञान को ख्याति व प्रतिष्ठा का माध्यम बनाकर) सचमुच धर्म-शासन की विडम्बना करते हैं।

६. ज्ञानाभिमान-निरसन

९२. जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य, सिस्सगणसंपरिवुडो य ।
अविणिच्छओ य समये, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ।।

सन्मति तर्क। ३.६६ तु०=यो० सा० अ०। ७.४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा यथा बहुश्रुतः सम्मतश्च, शिष्यगणसंपरिवृतश्च ।
अविनिश्चितस्य समये, तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः ।।

शाब्दिक जगत् में विचरण करनेवाला वह आचार्य ज्यों-ज्यों बहुश्रुत माना जाता है, और शिष्य-समूह से घिरता जाता है, त्यों-त्यों (पक्षपात से विषाक्त ज्ञानाभिमान के कारण) वह सर्वजीवहितैषी सिद्धान्त का शत्रु बनता जाता है।

७. स्वानुभव ज्ञान

९३. अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, नैव गम्यं कदाचन ।।

अध्या० उप० । २.२१ तु०=तत्त्वानुशासन । १६६-१६७

शास्त्रगत सैकड़ों युक्तियों के द्वारा भी (मन वाणी से अतीत[1]) वह परब्रह्मस्वरूप अतीन्द्रिय तत्त्व, विशुद्ध अनुभव के विना कभी जाना नहीं जा सकता।

९४. भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी,
यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।

स० सा० । क० । १२

यदि कोई सुबुद्धि जीव भूत वर्तमान व भावी कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल भिन्न करके तथा तज्जनित मिथ्यात्व को बलपूर्वक रोककर अन्तरंग में अभ्यास करे तो स्वानुभवगम्य महिमावाला यह आत्मा व्यक्त, निश्चल, शाश्वत, नित्य, निरंजन तथा स्वयं स्तुति करने योग्य परम देव, यह देखो, यहाँ विराजमान है ही।

---

१. दे० गा० ३७१-३७२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. अध्यात्मज्ञान के लिंग

९५. णासीले ण विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

उत्तरा० । ११.५ तु०=मू० आ० । २६७-२६८ (५.१०५)

नाशीलः न विशीलो, न स्यादतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥

अशील न हो अर्थात् सुशील हो, बार-बार आचार को बदलने-वाला विशील न हो, रसलोलुप तथा क्रोधी न हो, सत्यपरायण हो। इन गुणों से व्यक्ति शिक्षाशील कहलाता है।

९६. जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मेत्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥

मू० आ० । २६८ (५.८६) तु०=दे० अगली गा० ९७

येन रागाद्विरज्यते येन श्रेयसि रज्यते ।
येन मैत्री प्रभावयेत् तज्ज्ञानं जिनशासने ॥

जिसके द्वारा व्यक्ति राग से विरक्त हो, जिसके द्वारा वह श्रेय-मार्ग में रत हो, जिसके द्वारा सर्व प्राणियों में मैत्री वर्ते, वही जिनमत में ज्ञान कहा गया है।

९७. विषमेऽपि समेक्षी यः, स ज्ञानी स च पण्डितः ।
जीवन्मुक्तः स्थिरं ब्रह्म, तथा चोक्तं परैरपि ॥

अध्या० सा० । १५.४२ तु०=दे० पिछली गा० ९६

विषम में भी जो सम देखता है, वही ज्ञानी और वही पण्डित है। वही ब्रह्म में स्थित जीवन्मुक्त है। (गीताकार ने भी ऐसा ही कहा है[१]।)

---

१. गी० । ५-१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. अध्यात्मज्ञान-चिन्तनिका

९८. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारो-
ऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी साधु-
समाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिर्-
आवश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सलत्वमिति
तीर्थकरत्वस्य ॥

त० सू० । ६.२४ तु=ज्ञा० ध० । १.८.१९

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, अहिंसा आदि व्रतों का तथा उनके रक्षक शीलों का[1] निरतिचार पालन, सतत ज्ञान-ध्यान में लीन रहना, धार्मिक कर्मों में उत्साह व हर्ष, यथाशक्ति त्याग व तप करते रहना, साधु-समाधि[2] अर्थात् अन्त समय समतापूर्वक देह का त्याग करना, गुरुजनों की सेवा, अर्हन्त आचार्य उपाध्याय व शास्त्र की भक्ति, वन्दना, सामायिक, स्तुति, दोषों का प्रायश्चित्त आदि—आवश्यक क्रियाओं में कभी प्रमाद न करना, धर्म-मार्ग की जगत् में प्रभावना करते रहना तथा गुणीजनों में वात्सल्य व प्रमोद भाव का होना। ये सोलह प्रसिद्ध भावनाएँ हैं, जिनके निरन्तर भाते रहने से तीर्थंकर होने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

९९. समणेण सावएण य, जाओ णिच्चंपि भावणिज्जाओ ।
दढसंवेगकरीओ, विसेसओ उत्तमट्ठम्मि ॥

मरण समा० । ५७१ तु०=पं० विं० । ६.४२

श्रमणेन श्रावकेन च, या नित्यमपि भावनीयाः ।
दृढसंवेगकारिण्यो, विशेषतः उत्तमार्थे ॥

श्रमण को या श्रावक को संवेग व वैराग्य के दृढ़ीकरणार्थ नित्य ही, विशेषतः सल्लेखना के काल में इन १२ भावनाओं का चिन्तवन करते रहना चाहिए।

---

१. दे० गा० १७९ । २. दे० अधि० १० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१००. अधुवमसरणमेगत्त-मण्णत्तसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ।।

भ० आ० । १७१५ तु०=मरण समा० । ५७२-७३

अध्रुवशरणमेकत्व - मन्यत्वसंसारलोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जर, धर्मं बोधिं च चिन्तयेत् ।।

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ, इन १२ भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए ।

(क) अनित्य व अशरण संसार

१०१. अम्भोबुद्बुदसंनिभा तनुरियं, श्रीरिन्द्रजालोपमा ।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः, कान्तार्थपुत्रादयः ।।

१०२. सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं, मत्तांगनापाङ्गवत् ।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये, शोकेन किं किं मुदा ।।

पं० विं० । ३.४ तु०=उत्तरा० । १८.१३

यह शरीर जलबुद्बुद के समान अनित्य है तथा लक्ष्मी इन्द्रजाल के समान चंचल । स्त्री, धन व पुत्रादि आँधी से आहत जल-प्रवाहवत् अति वेग से नाश की ओर दौड़े जा रहे हैं । वैषयिक सुख काम से मत्त स्त्री की भाँति तरल हैं अर्थात् विश्वास के योग्य नहीं हैं । इसलिए समस्त उपद्रवों के स्थानभूत इनके विषय में शोक करने से क्या लाभ है ? और इनकी प्राप्ति होने पर मोद कैसा ?

१०३. जम्मजरामरणभए अभिद्दुए, विविहवाहिसंतत्ते ।
लोगम्मि नत्थि सरणं, जिणिंदवरसासणं मुत्तुं ।।

मरण समा० । ५७८ तु०=वा० अ० । ११

जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते, विविधव्याधिसंतप्ते ।
लोके नास्ति शरणं जिनेन्द्रवरशासनं मुक्त्वा ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जन्म, जरा व मरण के भय से पूर्ण तथा विविध व्याधियों से संतप्त इस लोक में जिनशासन को छोड़कर (अथवा आत्मा को छोड़कर) अन्य कोई शरण नहीं है ।

१०४. संगं परिजाणामि सल्लंपि, य उद्धरामि तिविहेणं ।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च ॥

मरण समा० । २६७ तु०=का० अ० । ३०

संगं परिजानामि शल्यमपि चोद्धरामि त्रिविधेन ।
गुप्तयः समितयः, मम त्राणं शरणं च ॥

धन कुटुम्ब आदि रूप संसर्गों की अशरणता को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, तथा माया मिथ्या व निदान (कामना) इन तीन मानसिक शल्यों का मन वचन काय से त्याग करता हूँ। तीन गुप्ति व पाँच समिति[1] ही मेरे रक्षक व शरण हैं।

इस मोक्ष-मार्ग को न जानने के कारण ही मैं अनादि काल से इस संसार-सागर में भटक रहा हूँ। एक बालाग्र प्रमाण भी क्षेत्र ऐसा नहीं, जहाँ अनन्त वार जन्म-मरण न हुआ हो ।[2]

(ख) आत्मा का एकत्व व अनन्यत्व

१०५. एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ॥

आतुर० प्र० । २६ भा० पा० । ५९

एको मे शाश्वतः आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुतः ।
शेषा मे बाह्या भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥

ज्ञान दर्शन युक्त अकेली यह शाश्वत आत्मा ही मेरी है, जगत् के अन्य सर्व बाह्याभ्यन्तर पदार्थ व भाव संयोगज हैं और इसलिए मेरे स्वरूप से बाह्य हैं।

---

१. दे० गा० १९१-१९२ । २. दे० गा० ६-७ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०६. संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वभावेण वोसिरे ॥

आतुर० प्र० । २७

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं, सर्वभावेन व्युत्सृजामि ॥

आत्मस्वरूप से वाह्य संयोगमूलक ये सभी वाह्याभ्यन्तर पदार्थ, जीव के द्वारा प्राप्त कर लिये जाने पर क्योंकि उसके लिए दुःख परम्परा के हेतु हो जाते हैं, इसलिए सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक संयोग-सम्बन्धों को मैं मन वचन काय से छोड़ता हूँ।

१०७. अन्नं इमं सरीरं, अण्णो जीवुत्ति निच्छयमइओ।
दुक्खपरिकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥

मरण समा० । ४०२ तु०=मू० आ० । ७०२ (९.१२)

अन्यदिदं शरीरं अन्यो जीव इति निश्चितमतिकः।
दुःखपरिक्लेशकरं छिन्द्धि ममत्वं शरीरात् ॥

'यह जीव अन्य है और शरीर इससे अन्य है', इस प्रकार की निश्चित बुद्धिवाला व्यक्ति, शरीर को दुःख तथा क्लेश का कारण जानकर उस का ममत्व छोड़ देता है।

(ग) देह-दोष दर्शन

१०८. जावइयं किंचि दुहं, सारीरं माणसं च संसारे।
पत्ता अणंतखुत्तो, कायस्स ममत्तदोसेणं ॥

मरण समा० । ४०३ तु०=ज्ञा० । २.६ । १०-११

यावत्किंचिद्दुक्खं शारीरं मानसं च संसारे।
प्राप्तोऽनन्तकृत्वः कायस्य ममत्वदोषेण ॥

इस संसार में शारीरिक व मानसिक जितने भी दुःख हैं, वे सब शरीर-ममत्वरूपी दोष के कारण ही प्राप्त होते हैं। (इसलिए मैं इस ममत्व का त्याग करता हूँ।)

१०९. मंसट्ठियसंघाए, मुत्तपुरीस भरिए नवच्छिद्दे।
असुइ परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं अत्थि ॥

मरण समा० । ६०८ तु०=वा० अ० । ४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मांसास्थिसंघाते मूत्रपुरीषभृते नवच्छिद्रे ।
अशुचिं परिस्रवति शुभं शरीरे किमस्ति ।।

मांस व अस्थि के पिण्डभूत, तथा मूत्र-पूरीष के भण्डार अशुचि इस शरीर में शुभ है ही क्या, जिसमें कि नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है। (अतः मैं इसके ममत्व का त्याग करता हूँ।)

(घ) आस्रव, संवर व निर्जरा भावना

१. राग द्वेष व इन्द्रियों के वश होकर यह जीव सदा मन, वचन व काय से कर्म संचय करता रहता है। व्यक्ति की क्रियाएँ नहीं बल्कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद व कषाय आदि भाव ही वे द्वार हैं, जिनके द्वारा कर्मों का **आस्रव** या आगमन होता है। अनित्य व दुःखमय जानकर मैं इनसे निवृत्त होता हूँ।[१]

२. समिति गुप्ति आदि के सेवन से इस आस्रव का उसी प्रकार **संवर** या निरोध हो जाता है जिस प्रकार नाव का छिद्र रुक जाने पर उसमें होनेवाला जल-प्रवेश रुक जाता है। अतः घोड़े की भाँति इन्द्रिय व कषायों को बलपूर्वक लगाम लगानी चाहिए।[२]

३. जिस प्रकार तालाब में जल-प्रवेश का द्वार रुक जाने पर सूर्य-ताप से उसका जल सूख जाता है, उसी प्रकार समिति, गुप्ति आदि द्वारा आस्रव का द्वार रुक जाने पर तपस्या के द्वारा पूर्व संचित कर्म **निर्जीर्ण** हो जाते हैं। अतः मैं यथाशक्ति तप के प्रति उद्यत होता हूँ।[३]

(ङ) लोक-स्वरूप चिन्तन

११०. जीवादी पयत्थाणं, समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो, अहमज्झिमउड्ढभेएण ।।

बा० अ० । ३९

---

१. दे० गा० ३१६—३१९ । २. दे० गा० ३२०—३२३ ।
३. दे० गा० ३३२—३३५ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवादिपदार्थानां, समवायः स निरुच्यते लोकः।
त्रिविधः भवेत् लोकः, अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ।।

जीवादि छह द्रव्यों के[1] समुदाय को लोक कहते हैं। यह त्रिधा विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। (अधोलोक में नारकीयों का वास है, मध्यलोक में मनुष्य व तिर्यंचों का और ऊर्ध्वलोक में देवों का।)

१११. असुहेण णिरय तिरियं, सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोयं विचिंतिज्जो ।।

वा० अणु०। ४२ तु०=उत्तरा०। ३२.२

अशुभेन निरयतिर्यंचं, शुभोपयोगेन दिविज-नर-सौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिं एवं लोक विचिन्तनीयः ।।

अशुभ उपयोग से नरक व तिर्यंच लोक की प्राप्ति होती है, शुभोपयोग से देवों व मनुष्यों के सुख मिलते हैं, और शुद्धोपयोग से मोक्ष-लाभ होता है। इस प्रकार **लोक-भावना** का चिन्तवन करना चाहिए।

(च) बोधि-दुर्लभ भावना

११२. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ।।

उत्तरा०। ३.८ तु०=रा० वा०। ९.७.९

मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिम् अहिंस्रताम् ।।

(चतुर्गति रूप इस संसार में भ्रमण करते हुए प्राणी को मनुष्य तन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है) सौभाग्यवश मनुष्य जन्म पाकर भी श्रुत चारित्र रूप धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसको सुनकर प्राणी तप, कषाय-विजय व अहिंसादि युक्त संयम को प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. दे० अधिकार १२

४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११३. आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ।।

उत्तरा० । ३.९ तु० = पं० वि० । ४.६–८

कदाचित् श्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परमदुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहवः परिभ्रश्यन्ति ।।

कदाचित् धर्म-श्रवण का लाभ हो जाय तो भी धर्म में श्रद्धा होना दुर्लभ है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि रूप इस न्याय-मार्ग को सुनकर भी अनेक व्यक्ति (श्रद्धायुक्त चारित्र अंगीकार करने के बजाय ज्ञानाभिमानवश स्वच्छन्द व) पथ-भ्रष्ट होते देखे जाते हैं।

११४. सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए ।।

उत्तरा० । ३.१० तु० = रा० वा० । ९.७.९

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम् ।
बहवः रोचमानाऽपि, नो च तत् प्रतिपद्यन्ते ।।

और यदि बड़े भाग्य से सुनकर श्रद्धा हो जाय तो भी चारित्र पालने के लिए वीर्योल्लास का होना दुर्लभ है। क्योंकि अनेक व्यक्ति सद्धर्म का ज्ञान व रुचि होते हुए भी उसका आचरण करने में समर्थ नहीं होते हैं।

(छ) धर्म ही सुख

११५. धम्मेण विणा जिणदेसिएण, नन्नत्थ अत्थि किंचि सुहं ।
ठाणं वा कज्जं वा, सदेवमणुयासुरे लोए ।।

मरण समा० । ६०१ तु० = ज्ञा० । २.१० । ११

धर्मेण विना जिनदेशितेन, नान्यत्रास्ति किंचित्सुखम् ।
स्थानं वा कार्यं वा, सदेवमनुजासुरे लोके ।।

जिनोपदिष्ट धर्म के बिना देवलोक में, मनुष्यलोक में या असुरलोक में कहीं भी किंचिन्मात्र सुख नहीं है, न तो कोई सुख का स्थान ही है और न कोई सुख का साधन ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ६ :

निश्चय-चारित्र अधिकार

(बुद्धि-योग)

मोह-क्षोभविहीन आत्मा का निश्चल परिणाम ही चारित्र शब्द का वाच्य है। इष्टानिष्ट विषयों में राग-द्वेष का न होना, लाभ-अलाभ आदि में समता, कषाय निग्रह, इन्द्रिय-जय, वैराग्य-परायणता तथा तितिक्षा भाव, ये सब उसके लिंग हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. निश्चय-चारित्र (समत्व)

११६. समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं ।
तह चारित्तं धम्मो, सहाव आराहणा भणिया ॥
न० च० । ३५६

समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्रं धर्मः स्वभावाराधना भणिता ॥

समता, माध्यस्थता, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र[1], धर्म, स्वभाव की आराधना ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

११७. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥
प्र० सा० । ७ तु० = सू० कृ० । ६. १.४

चारित्रं खलु धर्मो, धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो हि साम्यम् ॥

परमार्थतः चारित्र ही धर्म (आतम-स्वभाव[2]) है। धर्म साम्यस्वरूप कहा गया है, और आत्मा का मोह क्षोभ-विहीन परिणाम ही साम्य है, ऐसा शास्त्रों का निर्देश है।

[यह निश्चय-चारित्र का अधिकार है। इसके साधनभूत व्यवहार-चारित्र का कथन संयम अधिकार (८) में किया गया है।]

२. महारोग रागद्वेष

११८. णवि तं कुणइ अमित्तो,सुट्ठु विय विराहिओ समत्थोवि ।
जं दोवि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥
मरण० समा० । १९८ तु०=ध० । पृ० ४३

नैव तत्करोति अमित्रः, सुष्ठ्वपि विराद्धः समर्थोऽपि ।
यद् द्वावपि अनिगृहीतौ, कुरुतो रागश्च द्वेषश्च ॥

---

१. रागादि का परिहार ही चारित्र है—दे० गा० २२।
२. वस्तु का स्वभाव धर्म है—दे० गा० २४२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक् प्रकार से निग्रह न किये गये राग और द्वेष ये दोनों व्यक्ति का जितना अनिष्ट करते हैं, उतना कोई अत्यन्त कुशल शत्रु भी नहीं करता है, भले वह कितना ही क्रुद्ध व समर्थ हो।

११९. व्याप्नोति महतीं भूमिं, वटबीजाद्यथा वटः।
तथैकममताबीजात्प्रपंचस्यापि कल्पना ॥

अध्या० सा० । ८.६ तु०=आ० अनु० । १८२

जिस प्रकार वट-बीज से उत्पन्न वट वृक्ष लम्बी-चौड़ी भूमि को घेर लेता है, उसी प्रकार ममतारूप बीज से उत्पन्न प्रपंच की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

१२०. परमाणुमित्तयं पि हु, रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥

स० सा० । २०१ तु०=मरण समा० । ४०७

परमाणुमात्रमपि खलु, रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं, सर्वागमधरोऽपि ॥

जिस व्यक्ति के हृदय में परमाणु मात्र भी राग व द्वेष का वास है, वह सर्व शास्त्रों का ज्ञाता भी क्यों न हो, आत्मा को नहीं जानता है।

३. रागद्वेष का प्रतिकार

१२१. रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्,
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटंतौ,
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्च्चिः ॥

स० सा० । क० २१७ तु०=मरण समा० । ३०

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर राग और द्वेष स्वतंत्र सत्ताधारी कुछ भी नहीं है। ज्ञान का अज्ञानरूपेण परिणमन हो जाना ही उनका स्वरूप है।[1] अतः सम्यग्दृष्टि तत्त्वदृष्टि के द्वारा इन्हें नष्ट कर दे,

१. इष्टानिष्टता काल्पनिक है, वस्तुभूत नहीं—दे० गा० १२९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिससे पूर्ण प्रकाशस्वरूप तथा अचल दीप्तिवाली सहज ज्ञान-ज्योति जागृत हो जाये।

१. (चारों कषाय, तीन गौरव, पाँच इन्द्रिय तथा अनुकूल व प्रतिकूल विघ्नों को जीतकर और आराधनारूपी पताका को हाथ में लेकर, मित्र, पुत्र, बन्धु व इष्टानिष्ट विषयों में किंचिन्मात्र भी राग व द्वेष न करे[१]।)

२. (समस्त दुःखों की खान जानकर इस शरीर के प्रति ममत्वभाव का त्याग कर दे।[२])

४. कषाय-निग्रह

१२२. उवसमदयादमाउहकरेण, रक्खा कसायचोरेहिं।
सक्का काउं आउहकरेण, रक्खा वा चोराणं॥

भ० आ०। १८३६ तु०=आचारांग ३.२.९ (११४)

उपशमदयादमायुधकरणेन, रक्षा कषायचौरैः।
शक्या कर्तुं आयुधकरणेन, रक्षा इव चौरेभ्यः॥

जिस प्रकार सशस्त्र पुरुष चोरों से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार उपशम दया और निग्रहरूप तीन शस्त्रों को धारण करनेवाला कषायरूपी चोरों से अपनी रक्षा करता है।

१२३. कोहस्स व माणस्स व, मायालोभेसु वा न एएसिं।
वच्चइ वसं खणंपि हु, दुग्गइगइवड्ढणकराणं॥

मरण० समा०। १९०

क्रोधस्य च मानस्य च, माया लोभयोश्च नैतेषां।
व्रजति वशं क्षणमपि दुर्गतिगतिवर्द्धनकराणाम्॥

दुर्गति की वृद्धि करनेवाले क्रोध मान माया व लोभ इन चारों के वश, एक क्षण के लिए भी न हो।

१२४. कोहं खमाइ माणं मद्दवया, अज्जवेण मायं च।
संतोसेण व लोहं निज्जिण चत्तारि वि कसाए॥

मरण समा०। १८९ तु०=भ० आ०। २६०

१. दे० गा० ७२-७३। २. दे० गा० १०९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधं क्षमया मानं मार्दवेन, आर्जवेन मायां च।
संतोषेण च लोभं, निर्जय चतुरोऽपि कषायान् ।।

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को संतोष से[1], इस प्रकार इन चारों कषायों को जीत ले।

५. इन्द्रिय-जय

१२५. जहा कुम्मे सुअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ।।

सू० कृ०। १.८.१६ तु०=म० आ०। १८३७

यथा कूर्मः स्वांगानि स्वस्मिन् देहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ।।

जिस प्रकार कछुआ विपत्ति के समय अपने अंगों को अपने शरीर के भीतर समेट लेता है, उसी प्रकार पण्डित जन विषयों की ओर जाती हुई अपनी पापप्रवृत्त इन्द्रियों को अध्यात्मज्ञान के द्वारा समेट लेते हैं।

१२६. यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।।

इ० उ०। ३७

आत्मा व अनात्मा के भेद-ज्ञान के द्वारा ज्यों-ज्यों आत्मा का स्वरूप अनुभव में आता जाता है, त्यों-त्यों सहज प्राप्त रमणीय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं।

६. समता-सूत्र (स्थितप्रज्ञता)

१२७. लाहालाहे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।।

उत्तरा०। १९.९१ तु० = अ० ग० श्रा०। ८.३.१

---

१. क्षमा, मार्दव, आर्जव व सन्तोष—दे० गा० २६७–२७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समः निन्दाप्रशंसयोः, तथा मानापमानयोः ।।

लाभ व अलाभ में, सुख व दुःख में, जीवन व मरण में, निन्दा व प्रशंसा में तथा मान व अपमान में भिक्षु सदा समता रखे। (यही साधु का सामायिक नामक चारित्र है[1]।)

१२८. जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ।।

उत्तरा० । ३२.२१ तु० = मू० आ० । ५२२ (५.१२१)

य इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः, न तेषु भावं निसृजेत् कदापि।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ।।

समाधि का इच्छुक तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग न करे और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष भी न करे।

१२९. एकस्य विषयो यः, स्यात्स्वाभिप्रायेण पुष्टिकृत्।
अन्यस्य द्वेष्यतामेति, स एव मतिभेदतः ।।

अध्या० सा० । ९.४ तु० = यो० सा० अ० । ५.३६

तत्त्वतः कोई भी विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं होता, क्योंकि जो विषय किसी एक व्यक्ति को उसकी अपनी रुचि के अनुसार इष्ट होता है, वही दूसरे व्यक्ति को उसके मतिभेद के कारण द्वेष्य या अनिष्ट होता है।

७. वैराग्य-सूत्र (संन्यास-योग)

१३०. धम्मे य धम्मफलम्हि, दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो।
संसारदेह भोगेसु, विरत्तभावो य वैरग्गं ।।

द्र० सं० । ३५ की टीका में उद्धृत

धर्मे च धर्मफले दर्शने च हर्षः च भवति संवेगो।
संसारदेहभोगेषु, विरक्तभावः च वैराग्यम् ।।

---

१. दे० गा० २५३-२५४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म में, धर्म के फल में और सम्यग्दर्शन में जो हर्ष होता है, वह तो संवेग है, और संसार देह भोगों से विरक्त होना वैराग्य या निर्वेद है।

१३१. यस्य सस्पन्दमाभाति, निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाऽभोगं, स शमं याति नेतरः ।।

स० श० । ६७

जिसको चलता-फिरता भी यह जगत् स्तब्ध के समान दीखता है, प्रज्ञा-रहित, क्रिया-रहित तथा सुखादि के अनुभव से रहित दीखता है, उसे वैराग्य हो जाता है, अन्य को नहीं।

१३२. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
ण लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

उत्तरा० । ३२.९९,

भावे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।।

जो व्यक्ति भाव से विरक्त है, और दुःखों की परम्परा के द्वारा जिसके चित्त में मोह व शोक उत्पन्न नहीं होता है, वह इस संसार में रहते हुए भी, उसी प्रकार अलिप्त रहता है, जिस प्रकार जल के मध्य कमलिनी का पत्ता।

१३३. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई।।

स० सा० । १९७ तु० =अध्या० सा० । ५.२५

सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरण इति स भवति ।।

कोई वैराग्य-परायण तो विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन नहीं करता है, और आसक्त व्यक्ति सेवन न करता हुआ भी सेवन कर रहा है। जैसे किसी के द्वारा नियोजित व्यक्ति चेष्टा करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ भी उस चेष्टा का स्वामी नहीं होता है। (ज्ञान हो जाने पर न कुछ त्याग करना शेष रहता है, न ग्रहण[1]।)

१३४. उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।

स० सा०। १९३

उपभोगमिन्द्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं।।

सम्यग्दृष्टि की ही यह कोई अकथनीय महिमा है, कि जो जो भी चेतन या अचेतन द्रव्य वह अपनी इन्द्रियों के द्वारा भोगता है, वह वह उसके लिए बन्धनकारी न होकर निर्जरा का निमित्त हो जाता है।

८. परीषह-जय (तितिक्षा सूत्र)

१३५. सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छेलणापहोअस्स, दुल्लहा सु गई तारिसगस्स।।

दशवै०। ४.२६ तु० = मो० पा०। ६२

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिनः।
उत्क्षालनाप्रधाविनः, दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य।।

जो श्रमण केवल अपने शरीर के सुखों का ही स्वादिया है, और उन सुखों के लिए सदा आकुल-व्याकुल रहता है, खूब खा पीकर सो जाता है और सदा हाथ-पाँव आदि धोने में ही लगा रहता है, उसे सुगति दुर्लभ है।

१३६. एवं सेहे वि अपुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए।
सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए।।

सू० कृ०। ३.१.३ तु० = अनगार धर्मामृत। ६.८३

एवं शिष्योऽप्यस्पृष्टो, भिक्षाचर्याऽको विदः।
शूरं मन्यत आत्मानं, यावत् रूक्षं न सेवते।।

---

१. दे० गा० २८०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नवदीक्षित साधु उसी समय तक शूरवीर है, जब तक संयम अंगीकार करके वह भिक्षाचर्या, रूखा-सूखा नीरस आहार व पीड़ाओं का स्पर्श नहीं कर लेता।

१३७. सो वि परीसहविजओ, छुहाइ-पीडाण-अइ-रउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं, उवसमभावेण जं सहणं ।।

का० अ०। ९८ तु० = उत्तरा०। १५.४

स अपि परीषहविजयः, क्षुधादिपीडानाम् अतिरौद्राणाम् ।
श्रमणानां च मुनीनां, उपसमभावेन यत् सहनम् ।।

अत्यन्त दारुण क्षुधा आदि की वेदना को जो ज्ञानी मुनि शान्त भाव से सहन करता है, उसे परीषहजय कहते हैं।

१३८. तहागहं भिक्खु मणंत संजयं, अणोलिसं विन्नु चरंतमेसणं।
तुदंति वायाहि आभद्दयं णरा, सरेहि संगामगयं व कुंजरं।।

आचा०। २५.२ तु० = मू० आ०। ९९७ (८.१०२)

तथागतं भिक्षुमनन्तसंयतं, अनीदृशं विज्ञः चरंतमेषणाम् ।
तदन्ति वाग्भिः अभिद्रवन्तो नराः, शरैः संग्रामगतमिव कुंजरम् ।।

जीवदया व विरागपरायण ज्ञानी भिक्षु को चर्या के समय जब ये लोग विविध प्रकार से, मर्मभेदी वाग्बाणों के द्वारा अथवा मुक्का व लाठी आदि के प्रहारों के द्वारा पीड़ा देते हैं, तो वह उसे उसी प्रकार सहन कर जाय, जिस प्रकार संग्राम में हाथी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ७ :

व्यवहार-चारित्र अधिकार

(साधना अधिकार)

[कर्म-योग]

इस समता रूप परमार्थ चारित्र की प्राप्ति के लिए साधना अपेक्षित है। प्रयत्नपूर्वक अशुभ क्रियाओं से बचना और शुभ के प्रति जागरूक रहना ही वह साधना है, जिसे शास्त्रों में व्यवहार-चारित्र कहा गया है।

साधक ही नहीं, पूर्णकाम ज्ञानी भी कदाचित् किसी कारणवश उसका आचरण करता है। क्रियात्मक होते हुए भी लक्ष्य सत्य होने के कारण पहले को, और अहंकार-शून्य होने के कारण दूसरे को, वह बन्धनकारी नहीं होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. व्यवहार-चारित्र निर्देश

१३९. असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणयादु जिण भणियं ॥

द्र० सं० । ४५ तु० = उत्तरा० । ३१.२

अशुभात् विनिवृत्तिः, शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम्।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं, व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥

अशुभ कार्यों से निवृत्ति तथा शुभ कार्यों में प्रवृत्ति, यह व्यवहार नय से चारित्र का लक्षण है। वह पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, ऐसे तेरह प्रकार का है।

२. मोक्षमार्ग में चारित्र (कर्म) का स्थान

१४०. थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ॥

मू० आ० । ८९७ (१०.६) तु० = दे० आगे की गा० १४१

स्तोके शिक्षिते जयति, बहुश्रुतं यश्चारित्रसम्पूर्णः।
यः पुनश्चारित्रहीनः, किं तस्य श्रुतेन बहुकेन ॥

चारित्र से परिपूर्ण साधु थोड़ा पढ़ा हुआ भी क्यों न हो, बहुश्रुत को भी जीत लेता है। परन्तु जो चारित्रहीन है, वह बहुत शास्त्रों का जाननेवाला भी क्यों न हो, उसके शास्त्रज्ञान से क्या लाभ ?

१४१. सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोड़ी वि ॥

वि० आ० भा० । ११५२ तु० = मू० आ० । १०.४५

सुबह्वपि श्रुतमधीतं, किं करिष्यति चरणविप्रहीनस्य।
अन्धस्य यथा प्रदीप्ता, दीपशतसहस्रकोटिरपि ॥

भले ही बहुत सारे शास्त्र पढ़े हों, परन्तु चारित्रहीन के लिए वे सब किस काम के ? हजारों करोड़ भी जगे हुए दीपक अन्धे के लिए किस काम के ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. चारित्र (कर्म) में सम्यक्त्व व ज्ञान का स्थान

१४२. जदि पढदि बहुसुदाणि य, जदि काहिदि बहुविहं य चारित्तं।
तं बाल सुदं चरणं, हवेइ अप्पस्स विवरीयं ।।

मो० पा० । १०० तु० = दे० अगली गा० १४३

यदि पठति बहुश्रुतानि च, यदि करिष्यति बहुविधं च चारित्रम् ।
तत् बालश्रुतं चरणं, भवति आत्मनः विपरीतम् ।।

आत्मा से विपरीत अर्थात् आत्मा को स्पर्श किये विना बहुत सारे शास्त्रों का पढ़ना बालश्रुत है और बहुत प्रकार के चारित्र का करना बाल-चरण है।

१४३. चरणकरणप्पहाणा, ससमय-परसमयमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं ण याणंति ।।

सन्मति तर्क । ३.६७ तु० = दे० पिछली गा० १४२

चरणकरणप्रधानाः, स्वसमय-परसमयमुक्तव्यापाराः ।
चरण-करणस्य सारं, निश्चयशुद्धं न जानन्ति ।।

जो स्व व पर सिद्धान्त का चिन्तन छोड़ बैठे हैं, वे व्रत व नियम करते हुए भी परमार्थतः उनके फल को नहीं जानते हैं।

४. कर्मयोग-रहस्य

१४४. एयं सकम्म विरियं, बालाणं तु पवेइयं ।
इत्तो अकम्म विरियं, पंडियाणं सुणेह मे ।।

सू० कृ० । ८.१.९ तु० = स० सा० । क० । २०५

एतत्सकर्मवीर्यं, बालानां तु प्रवेदितम् ।
अतोऽकर्मवीर्यं पण्डितानां श्रणुत मे ।।

अब तक जो कहा गया है[1] वह अज्ञानी जनों का सकर्म वीर्य है। अब ज्ञानी जनों का अकर्म-वीर्य कहता हूँ। सो सुनो। अर्थात् अज्ञानी जनों की क्रियाएँ सकर्म होती हैं और ज्ञानी जनों की अकर्म[2]।

---

१. इसका सम्बन्ध सूत्रकृतांग ग्रन्थ से है, जहाँ से यह गाथा लेकर लिखी गयी है।
२. ज्ञानी अकर्म के द्वारा ही कर्म खपाता है।—दे० गा० २७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४५. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि, बालं पण्डियमेव वा ॥

सू० कृ०। १.८.३ तु० = भ० आ०। ८०३

प्रमादं कर्म आहुः, अप्रमादं तथाऽपरम्।
तद्भावादेशतो वाऽपि, बालं पण्डितमेव वा ॥

(इसका कारण यह है) कि प्रमाद[1] को ही कर्म कहा गया है और अप्रमाद को अकर्म। प्रमाद व अप्रमाद की अपेक्षा ही व्यक्ति को अज्ञानी व ज्ञानी कहा जाता है।

१४६. जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥

भा० पा०। १५४ तु० = आचारांग। ४.४.७ (१४०)

यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते, कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥

जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जल के साथ लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष कषायों व इन्द्रिय-विषयों में संलग्न होकर भी उनमें लिप्त नहीं होता।

१४७. त्यक्तं येन फलं स कर्मकुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्म्मेति जानाति कः ॥

स० सा०। क० १५३ तु०=आचारांग ४.२.१ (१३०)

जिसने कर्म-फल का त्याग कर दिया है, वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति हमें नहीं होती। परन्तु इतना विशेष है कि ऐसे ज्ञानी को भी कदाचित् किसी कारणवश कोई कर्म करना अवश्य पड़ता है। उसके

---

१. दे० गा० १५१-१५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आ पड़ने पर भी जो अकम्प परमज्ञान में स्थित है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं, यह कौन जानता है ? अर्थात् वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है। (निष्काम योगी किसी भी प्रकार का पाप नहीं करता[1]।)

१४८. न ह्यप्रमत्तसाधूनां, क्रियाप्यावश्यकादिका।
नियता ध्यानशुद्धत्वाद्यदन्यैरप्यदः स्मृतम् ॥

अध्या० सा०। १५.७ तु० = स० सा०। क०। १११

ध्यान द्वारा चित्त शुद्ध या स्थिर हो जाने के कारण अप्रमत्त साधु को षडावश्यक आदि शास्त्रोक्त क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। गीताकार ने भी ऐसा कहा है[2]। परन्तु--

१४९. कर्माप्याचरतो ज्ञातुर्मुक्तिभावो न हीयते।
तत्र संकल्पजो बन्धो गीयते यत्परैरपि ॥

अध्या० सा०। १५.३२ तु० = दे० पीछे गा० १४७

(यद्यपि ज्ञानी को कर्म करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु) यदि वह शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करे तो भी उसके मुक्तिभाव में कोई हानि नहीं होती है। क्योंकि संकल्प ही वन्ध का कारण है, क्रिया नहीं। गीताकार ने भी यही कहा है[3]।

१५०. कर्म नैष्कर्म्य वैषम्य-मुदासीनो विभावयन।
ज्ञानी न लिप्यते भोगैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

अध्या० सा०। १५.३५ तु० = यो० सा० अ०। ९.५९

कर्म व अकर्म के भेद में उदासीन हो जाने के कारण अर्थात् कर्म व अकर्म में कोई भेद न देखने वाला ज्ञानी भोगों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल से कमल-पत्र गीला नहीं होता।

---

१. दे० गा० २७८
२. गीता २.२२
३. गीता ३.९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. अप्रमाद-सूत्र

१५१. कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

१५२. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

दशवै०। ४.७–८ तु० = म० आ०। १०१२–१०१३

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथमासीत् कथं शयीत्।
कथं भुंजानो भाषमाणः पापकर्म न बध्नाति॥
यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत् यतं शयीत्।
यतं भुंजानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति॥

('अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति' यह साधनागत व्यवहार चारित्र का लक्षण कहा गया है। इसके विषय में ही शिष्य प्रश्न करता है)—कैसे चलें, कैसे बैठें, कैसे खड़े हों, कैसे सोवें, कैसे खावें और कैसे बोलें कि पापकर्म न बँधे। (गुरु उत्तर देते हैं)—यत्न से चलो, यत्न से खड़े हो, यत्न से बैठो, यत्न से सोओ, यत्न से खाओ और यत्न से बोलो। ऐसा करने से पापकर्म नहीं बँधता।

१५३. पउमिणिपत्तं व जहा, उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साधु काएसु इरियंतो॥

म० आ०। १२०१ तु० = पीछे गा० १५२

पद्मिनी पत्रं व यथा, उदकेन न लिप्यति स्नेहगुणयुक्तं।
तथा सम्यग्दृष्टिः न लिप्यति, साधुः कायेषु ईर्यन्॥

समिति पूर्वक शरीर से सब कुछ करता हुआ भी साधु, कर्मों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार स्निग्ध गुण से युक्त होने के कारण कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

[प्रश्न—आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि को यह सब यत्नाचार आदि करने की क्या आवश्यकता है?]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५४. उक्कोस्स चरित्तोऽवि य, परिवडइ मिच्छभावणं कुणइ।
किं पुण सम्मद्दिट्ठी, सराग धम्मंमि वट्टंतो ।।

मरण० समा० । १५२ तु० = रा० वा० । १०.१.३

उत्कृष्टचारित्रोऽपि च परिपतति मिथ्यात्वभावनां करोति ।
किं पुनः सम्यग्दृष्टिः सरागधर्मे वर्तमानः ।।

लगभग चरमदशा को प्राप्त उत्कृष्ट चारित्रवान भी, कभी-कभी मिथ्यात्व भाव का चिन्तवन करके नीचे गिर जाता है, तब फिर सराग धर्म की साधना में वर्तने वाले सम्यग्दृष्टि की तो बात ही क्या, (क्योंकि भले ही दृष्टि प्राप्त हो गयी हो, परन्तु आत्म-स्थिरता न होने के कारण वह अभी एक शक्तिहीन बालक ही है।)

१५५. वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुआ परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।।

उत्तरा० । ४.५

वित्तेन त्राणं न लभेत् प्रमतः अस्मिन् लोके अदो वा परत्र।
दीपप्रणष्टे इव अनन्तमोहः नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वा एव ।।

प्रमादी पुरुष इस लोक में या परलोक में धन-ऐश्वर्य आदि से संरक्षण नहीं पाता। जिसका अभ्यन्तर दीपक बुझ गया है, ऐसा अनन्त मोहवाला प्रमत्त प्राणी न्यायमार्ग को देखकर भी देख नहीं पाता है। (अर्थात् शास्त्रों से जानकर भी जीवन में उसका अनुभव कर नहीं पाता है।)

१५६. सव्वओ पमत्तस्स भयं। सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।।

आचा० । ३.४.३ तु०=भ० आ० । ८०३

सर्वतः प्रमत्तस्य भयं। सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम् ।।

रत्नत्रय के प्रति सुप्त ऐसे प्रमादी के लिए सर्वत्र भय ही भय है, और अप्रमत्त के लिए कहीं भी भय नहीं है।

इसका यह अर्थ भी नहीं करना चाहिए कि बिना अन्तरंग लक्ष्य के केवल बाह्य क्रियाओं से सब काम चल जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५७. जो सुत्तो ववहारे, सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।

मो० पा० । ३१ तु० = भगवती सूत्र । १२.२.४४३

यः सुप्तो व्यवहारे, सः योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यः जागर्ति व्यवहारे, सः सुप्तो आत्मनः कार्ये ।।

जो व्यवहार में सोता है वह योगी निज कार्य में जागता है । और जो व्यवहार में जागता है, वह निज कार्य में सोता है ।

१५८. सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिय आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो ।।

उत्तरा० । ४.६ तु० = मो० पा० । ३२-३३

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः ।
घोरा मुहूर्ता अबलं शरीरं, भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ।।

कर्तव्याकर्तव्य का शीघ्र ही निर्णय कर लेनेवाले तथा धर्म के प्रति सदा जागृत रहनेवाले पण्डित जन, आत्महित के प्रति सुप्त संसारी जीवों का कभी विश्वास नहीं करते । काल को भयंकर और शरीर को निर्बल जानकर वे सदा भेरण्ड[1] पक्षी की भाँति सावधान रहते हैं ।

६. शल्योद्धार

(हृदय में सदा शल्य की भाँति चुभते रहने के कारण मायाचारिता, मिथ्या-दर्शन, और निदान—ये तीन शल्य कहलाते हैं)।

१५९. णिसल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं ।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु, णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ।।

म० आ० । १२१४ तु० = महा० प्रत्या० । २४

१. भेरण्ड पक्षी के एक शरीर में दो जीव, दो ग्रीवा तथा तीन पैर होते हैं । जब एक जीव सोता है तो दूसरा जागता है । इस प्रकार बहुत सावधानी से ये अपना जीवन निर्वाह करते हैं । इसी प्रकार साधु अन्तरंग ज्ञान के लक्ष्य में सदा जागृत रहे और कर्म के प्रति सदा अप्रमत्त होकर वरते, इस प्रकार युगपत दोनों का निर्वाह करे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निःशल्यस्येव पुनः, महाव्रतानि भवन्ति सर्वाणि।
व्रतमुपहन्यते तिसृभिस्तु, निदान-मिथ्यात्व-मायाभिः ।।

शल्यों के अभाव में ही 'व्रत' व्रत संज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि शल्यों से रहित यति के सम्पूर्ण महाव्रतों का संरक्षण होता है। जिन्होंने शल्यों का आश्रय लिया, उन दम्भाचारियों के व्रत माया मिथ्या व निदान से नष्ट हो जाते हैं।

१६०. जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेयणद्दिओ होइ।
तह चेव उद्धियंमि, उ निसल्लो निव्वओ होइ।।

मरण समा० । ४९ तु०=स० सि० । ७.१८

यथा कण्टकेन विद्धः, सर्वेष्वंगेषु वेदनार्दितो भवति।
तथैव उद्धृते निश्शल्यो, निर्वृत्तो (निर्वातः) भवति ।।

जिस प्रकार शरीर में कहीं काँटा चुभ जाने पर सारे शरीर में वेदना व पीड़ा होती रहती है, उसी प्रकार उसके निकल जाने पर वह निःशल्य होकर पीड़ा से मुक्त हो जाता है।

१६१. अगणिअ जो मुक्खसुहं, कुणइ णिआणं असारसुहहेउं।
सो कायमणिकएणं, वेरुल्लियमणिं पणासेइ ।।

भक्त० परि० । १३८ तु०=भ० आ० । १२२३

अगणयित्वा यो मोक्षसुखं, करोति निदानमसारसुखहेतोः।
स काचमणिकृते, वैडूर्यमणिं प्रणाशयति ।।

मोक्ष के अद्वितीय सुख को न गिनकर जो असार ऐन्द्रिय सुख के लिए निदान करता है, वह मूर्ख काँच के लिए वैडूर्यमणि को नष्ट करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ८ :

आत्मसंयम अधिकार

(विकर्म-योग)

कर्म-योग की इस साधना के लिए शास्त्रविहित अनेकविध विकर्म अपेक्षित हैं, जिनमें अहिंसादि पाँच व्रत या यम प्रधान हैं। चलने बोलने खाने आदि में योगी की जो यत्नाचारी प्रवृत्ति होती है, उसे शास्त्र में पंच समिति कहा गया है, और मन वचन काय का गोपन या नियंत्रण तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं।

गृहस्थ भी यथाशक्ति इनका पालन करता है और इनकी रक्षार्थ अन्य भी अनेक कर्म करता है। यथा : इच्छाओं को सीमित करने के लिए व्यापार-क्षेत्र को परिमित करना, दिन में तीन तीन बार सामायिक या समता का अभ्यास करना, इत्यादि।

4535

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. संयम-सूत्र

१६२. वदसमिदिकसायाणं, दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गह, चायजओ संजमो भणिओ ।।

पं० सं० । १२७ तु०=मरण० समा० । १९५

व्रतसमितिकषायाणां, दण्डानां इन्द्रियाणां पंचानाम् ।
धारण-पालन-निग्रह-त्याग-जयः संयमः भणितः ।।

पंच व्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, मन वचन व काय इन तीन दण्डों का त्याग और पाँच इन्द्रियों का जीतना, यह सब संयम कहा गया है।

२. अनगार (साधु) व्रत-सूत्र

१६३. हिंसाविरदिसच्चं, अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च ।
संगविमुत्ती य तहा, महव्वया पंच पण्णत्ता ।।

मू० आ० । ४. (१.६) तु०=आतुर० प्रत्या० । २–३

हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च ब्रह्म च ।
संगविमुक्तिश्च तथा महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानि ।।

हिंसा का त्याग, सत्य बोलना, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग, ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं।

३. अहिंसा-सूत्र

१६४. जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमीलनि ।
जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ।।

जैनागमों में स्याद्वाद, भाग १ पृ० ३० पर उद्धृत

तु०=रा० वा० । ७. १३–१२ में उद्धृत

जल में जीव हैं, स्थल पर जीव हैं, आकाश में भी सर्वत्र जीव ही जीव भरे पड़े हैं। इस प्रकार जीवों से ठसाठस भरे इस लोक में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ? (आगे तीन गाथाओं में इसी शंका का समाधान किया गया है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६५. जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥

स० सा० । २४७

यः मन्यते हिनस्मि हिंस्ये च परैः सत्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥

जो ऐसा मानता है कि मैं जीवों को मारता हूँ अथवा दूसरों के द्वारा उनकी हिंसा कराता हूँ, वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत होता है।[1]

१६६. रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठा ॥

क० पा० । १ । गा० ४२ तु० = उत्तरा० । १९.२६

रागादीनामनुत्पादः अहिंसकत्वमिति देशितं समये।
तेषां चैवोत्पत्तिः हिंसेति जिनेन निर्दिष्टा ॥

रागद्वेषादि परिणामों का मन में उत्पन्न न होना ही शास्त्र में 'अहिंसा' कहा गया है। और उनकी उत्पत्ति ही हिंसा है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

[प्रश्न—यदि ऐसा है तो वड़े से बड़ा हिंसक भी अपने को रागद्वेष-विहीन कह कर छुट्टी पा लेगा ?]

१६७. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

प्र० सा० । २१७ तु० = अध्या० सा० । १८.१०४

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयत्नस्य नास्ति बंधो हिंसामात्रेण समितस्य ॥

जीव मरे या जीये, इससे हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यत्नाचार-विहीन प्रमत्त पुरुष निश्चित रूप से हिंसक है। और जो प्रयत्न-

१. तत्वतः मृत्यु व जन्म कुछ हैं ही नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वान व अप्रमत्त हैं, समिति-परायण है, उनको किसी जीव की हिंसा-मात्र से बन्ध नहीं होता।[1]

४. सत्य-सूत्र

१६८. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं-चाहितं च यत् ॥

योगशास्त्र । १.२१ तु० = ज्ञा० । ९.३

प्रिय, हितकारी व सत्य वचन बोलना सत्य व्रत कहलाता है। यहाँ इतना विवेक रखना आवश्यक है कि तथ्य वचन भी सत्य नहीं माना जाता, यदि वह अप्रिय हो या अहितकर हो। [यथा एक नेत्र वाले को काना कहना, अथवा किसी वधिक को यह बताना कि इस जंगल में हिरण बहुत रहते हैं।]

१६९. पत्थं हिदयाणिट्ठं पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं, महुरविवायं हवइ तस्स ॥

भ० आ० । ३५७ तु० = उत्तरा० । १९.२७

पथ्यं हृदयानिष्टमपि, भण्यमाणस्य स्वगणवसतः ।
कटुकमिवौषधं तु, मधुरविपाकं भवति तस्य ॥

हे मुनियो ! तुम अपने संघवालों के साथ हितकर वचन बोलो। यदि कदाचित् वे हृदय को अप्रिय भी लगें, तो भी कोई हर्ज नहीं। क्योंकि कटुक औषधि भी परिणाम में मधुर व कल्याणकर ही होती है।

५. अस्तेय (अचौर्य)-सूत्र

१७०. चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥

दशवै० । ६.१४ तु० = मू० आ० । २९१ (५.११२)

---

१. प्रयत्नवान् व्यक्ति स्वयं तो किसी की हिंसा के भाव करता ही नहीं। फिर भी चलते-फिरते, उठते-बैठते उससे यदि कदाचित कोई छोटा-मोटा जीव आहत हो जाये, तो उसकी हिंसा का दोष उसे नहीं लगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तवद् अचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुं ।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा ।।

सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या वहुत, यहाँ तक कि दाँत कुरेदने की सींक भी क्यों न हो, महाव्रती साधु गृहस्थ की आज्ञा के विना ग्रहण न करे।

१७१. गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ।।

नि० सा० । ५८ तु०—आचारांग । २४.४२ (१०४६)

ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमार्थम् ।
यो मुञ्चति ग्रहणभावं तृतीयं व्रतं भवति तस्यैव ।।

ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर जो मन में उसके ग्रहण करने का भाव नहीं लाता है, उसको तीसरा (अस्तेय या अचौर्य) महाव्रत होता है।

१७२. वज्जिज्जा तेनाहडतक्करजोगं विरुद्ध रज्जं च ।
कूडतुल-कूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं ।।

सावय पण्णत्ति । २६८ तु०—त० सू० । ७.२७

वर्जयेत् स्तेनाहृतं, तस्करप्रयोगं विरुद्धराज्यं च ।
कूटतुला कूटमाने, तत्प्रतिरूपं च व्यवहारम् ।।

[महाव्रती साधु को तो इन वातों से कोई सम्वन्ध नहीं होता, परन्तु अस्तेय अणुव्रत के धारी श्रावक के लिए ये पाँच वातें अस्तेय व्रत के अतिचार या दोषरूप बतायी गयी हैं—]

चोरी का माल लेना, स्वयं व्यापार में छिपने-छिपाने रूप जैसे तस्कर प्रयोग करना, राज्याज्ञा का उल्लंघन करना (घूसखोरी ब्लैक मार्केट, स्मगिलग, टैक्स व रेलवे टिकट की चोरी आदि), नाप-तौल की गड़वड़ व मिलावट आदि सव चोरी के तुल्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. ब्रह्मचर्य-सूत्र

१७३. जीवो बंभा जीवम्मि चेव, चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ।।
भ० आ० । ८७८

जीवो ब्रह्मा जीवो चैव, चर्या भवेत् या यतिनः ।
तं जानीहि ब्रह्मचर्यं, विमुक्त-परदेहतिक्तेः (व्यापारस्य) ।।

जीवात्मा ही ब्रह्म है। देह के ममत्व का त्याग करके उस ब्रह्म में चरण करना ही महाव्रती साधु का परमार्थ ब्रह्मचर्य है।

१७४. जउ कुंभे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते णासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ।।
सू० कृ० । ४.१.२७ तु० = भ० आ० । १०९२

जतुकुम्भोज्योतिरुपगूढ़, आश्वभितप्तो नाशमुपयाति ।
एवं स्त्रीभिरनगाराः, संवासेन नाशमुपयान्ति ।।

जिस प्रकार आग पर रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तपकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के सहवास से साधु भी शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

१७५. एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासायरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ।।
उत्तरा० । ३२.१८ तु० = भ० आ० । १११५

एताश्च संगान् समतिक्रम्य, सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गंगासमाना ।।

जिस प्रकार महासागर को तिर जाने वाले के लिए गंगा नदी का तिरना अति सुलभ है, उसी प्रकार स्त्री-संग के त्यागी महात्मा के लिए अन्य सर्व त्याग सरल हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. परिग्रह-त्याग-सूत्र

१७६. न कामभोगा समयं उवेंति न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ।।

उत्तरा० । ३२.१०१ तु० = स० सि० । ७.१७

न कामभोगाः समतामुपयन्ति, न चापि भोगाः विकृतिमुपयन्ति ।
यः तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहात् विकृतिमुपैति ।।

काम-भोग अपने आप न किसी में समता उत्पन्न करते हैं और न रागद्वेष रूप विषमता । मनुष्य स्वयं उनके प्रति रागद्वेष करके उनका स्वामी व भोगी बन जाता है, और मोहवश विकार-ग्रस्त हो जाता है ।

१७७. मूर्च्छाछन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ।।

ज्ञान० सार । २५.८ तु० = स० सि० । ७.१७

मोह के वशीभूत मूर्च्छित बुद्धिवाले के लिए यह जगत् ही परिग्रह है और मूर्च्छाविहीन के लिए सारा जगत् भी अपरिग्रह है ।

[मूर्च्छाविहीन होने के कारण, श्वेताम्बराम्नाय में, साधु वस्त्र-पात्र आदि धारण करके भी परिग्रह के दोष से लिप्त नहीं होते हैं[1] ।]

(इतना होने पर भी बाह्य-त्याग की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती ।)

१७८. सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं णिरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि णिरामिसा ।।

उत्तरा० । १४.४६ तु० = भ० आ० । २६४

सामिषं कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम् ।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषा ।।

एक पक्षी के मुँह में मांस का टुकड़ा देखकर दूसरे अनेक पक्षी उस पर टूट पड़ते हैं, किन्तु मांस का टुकड़ा छोड़ देने पर वह सुखी हो जाता है । इसी प्रकार दीक्षार्थी साधु भी समस्त परिग्रह को छोड़कर

१. दे० गा० ४२७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरामिष हो जाता है। (परिग्रह के कारण से उत्पन्न होने वाले अनेक विघ्न व संकट, परिग्रह का त्याग कर देने से सहज टल जाते हैं।)

८. सागार (श्रावक) व्रत-सूत्र

१७९. पंचेव अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइं चउरो, सावगधम्मो दुवालसविधं ॥

सावय पण्णति । ६ तु० = चा० पा० । २२

पंचैवाणुव्रतानि गुणव्रतानि च भवंति त्रीण्येव ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि श्रावकधर्मो द्वादशविधा ॥

[अनगार (साधुओं) के पाँच महाव्रतों का निर्देश कर दिया गया] सागार या गृहस्थ श्रावकों का धर्म १२ प्रकार का है—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ।

१८०. पंच उ अणुव्वयाइं, थूलगपाणवह विरमणाईणि ।
तत्थ पढमं इमं खलु, पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥

सावय पण्णति । १०६ तु० = चा० पा० । २३

पंचत्वणुव्रतानि स्थूलप्राणिवधविरमणादीनि ।
तत्र प्रथमं इदं खलु प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥

प्रथम पंचाणुव्रत का स्वरूप वीतराग भगवान् ने इस प्रकार कहा है—स्थूल प्राणिवध आदि से विरत हो जाना पाँच अणुव्रत हैं।

१८१. दिसिविदिसिमाण पढमं, अणत्थदण्डस्स वज्जणं विदियं।
भोगोवभोग परिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥

चा० पा० । २४ तु० = उपा० दश० । १, सूत्र ४६–४८

दिग्विदिग्माणं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीम् ।
भोगोपभोगपरिमाणं इदमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत ये तीन **गुणव्रत** कहलाते हैं। (आगे ३ गाथाओं में इन तीनों का क्रमशः कथन किया गया है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८२. उड्ढमहो तिरियं पि य दिसासु, परिमाणकरणमिह पढमं ।
भणियं गुणव्वयं खलु, सावगधम्मम्मि वीरेण ॥

सावय पण्णति । २८० तु० = वसु० श्रा० । २१४

ऊर्ध्वमधस्तिर्यगपि च दिक्षु परिमाणकरणमिह प्रथमम् ।
भणितं गुणव्रतं खलु श्रावकधर्मे वीरेण ॥

अपनी इच्छाओं को सीमित करने के लिए व्रती श्रावक ऊपर नीचे व तिर्यक् सभी दिशाओं का परिमाण कर लेता है, कि इतने क्षेत्र के वाहर किसी प्रकार का भी व्यवसाय न करूँगा । यही उसका **दिग्व्रत** नामक प्रथम गुणव्रत है । (सीमा से वाहर वाले क्षेत्र की अपेक्षा वह महाव्रती हो जाता है ।)

१८३. उवभोगपरिभोगे बीयं, परिमाणकरणमो णेयं ।
अणियमियवाविदोसा, न भवंति कायम्मि गुणभावो ॥

सावय पण्णति । २८४ तु० = वसु० श्रा० २१७

उपभोगपरिभोगयोः द्वितीयं परिमाणकरणं विज्ञेयम् ।
अनियमितव्याप्तिदोषाः न भवन्ति कृते गुणभावः ॥

काम-वासना को घटाने के लिए ताम्बूल, गन्ध, पुष्प व श्रृंगार आदि की वस्तुओं का परिमाण करना द्वितीय **भोगोपभोग परिमाण** व्रत है । इसके प्रभाव से परिमाण-बाह्य अनन्त वस्तुओं के प्रति आसक्तिभाव सर्वथा छूट जाता है । यही इसका गुणाकार करनेवाला गुणभाव है ।

१८४. अट्ठेण तं ण बंधइ, जमणट्ठेणं तु थोवबहुभावा ।
अट्ठे कालाइया, नियामगा न उ अणट्ठाए ॥

सावय पण्णत्ति । २९०

अर्थेन तन्न बध्नाति यदनर्थेन स्तोकबहुभावात् ।
अर्थे कालादयो नियामकाः नः त्वनर्थे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव को सप्रयोजन कर्म करने से उतना बन्ध नहीं होता जितना कि निष्प्रयोजन से होता है। क्योंकि सप्रयोजन कार्य में जिस प्रकार देश काल भाव आदि नियामक होते हैं, उस प्रकार निष्प्रयोजन में नहीं होते[1]। श्रावक ऐसे **अनर्थदण्ड** का त्याग करता है।

१८५. सामाइयं च पढमं, विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं, चउत्थं सल्लेहणा अंते॥

चा० पा० । २५ तु० = उपा० दश० । १ सूत्र ४९–५४

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधो भणितः।
तृतीयं चातिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अंते॥

सामायिक+, प्रोषधोपवास, अतिथि पूजा+, और सल्लेखना (समाधि मरण)+ ये चार **शिक्षाव्रत** कहे गये हैं। (क्योंकि इनसे श्रावक को अभ्यास आदि के द्वारा साधु-व्रत की शिक्षा मिलती है।)

१८६. आहारपोसहो खलु, सरीरसक्कारपोसहो चेव।
बंभव्वावारेसु य, तइयं सिक्खावयं नाम॥

सावय पण्णत्ति । ३२१ तु० = वसु० श्रा० । २८०

आहारप्रोषधः खलु, शरीरसत्कार प्रौषधश्चैव।
ब्रह्माव्यापारयोश्च तृतीयं शिक्षाव्रतं नाम॥

(अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में उपवास धारण करके सारा दिन धर्मध्यान पूर्वक मन्दिर आदि में बिताना प्रोषध व्रत कहलाता है।) वह चार प्रकार का है—आहार का त्याग, शरीर-संस्कार व स्नान आदि का त्याग, ब्रह्मचर्य, तथा व्यापार-धन्धे का त्याग।

---

१. आवश्यकता के अनुसार कार्य करना सप्रयोजन है और बिना आवश्यकता के कुछ भी करना निष्प्रयोजन है। यथा—बिना आवश्यकता के बिजली, पंखा व नल खुला छोड़ देना, किसी को पापाचार की सलाह देना, इत्यादि।

+ सामायिक व्रत=दे० आगे सामायिक सूत्र; अतिथि पूजा व्रत = दे० गा० २६५ सल्लेखना व्रत = दे० अधि० १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. सामायिक-सूत्र

१८७. जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इई केवलिभासियं ॥

वि० आ० भा०। २६८० (३१६३) तु० = मू० आ०। ५२१ (७. २५)

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।
तस्य सामायिकं भवतीति केवलिभाषितम् ॥

जो मुनि त्रस व स्थावर सभी भूतों अर्थात् देहधारियों में समता भाव युक्त होता है, उसको सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

१८८. सावज्जजोगंपरिक्खणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं।
गिहत्थधम्मा परमं ति नच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ॥

वि० आ० भा०। २६८१ (३१६४)

सावद्ययोगपरिरक्षणार्थं सामायिकं केवलिकं प्रशस्तम्।
गृहस्थधर्मान् परमिति ज्ञात्वा, कुर्याद् बुध आत्महितं परार्थम् ॥

सावद्य योग से अर्थात् पापकार्यों से अपनी रक्षा करने के लिए पूर्णकालिक सामायिक या समता ही प्रशस्त है (परन्तु वह प्रायः साधुओं को ही सम्भव है)। गृहस्थों के लिए भी वह परम धर्म है, ऐसा जानकर स्व-पर के हितार्थ बुधजन सामायिक अवश्य करें[1]।

१८९. विना समत्वं प्रसरन्ममत्वं,
सामायिकं मायिकमेव मन्ये।
आये समानां सति सद्गुणानां,
शुद्धं हि तच्छुद्धनया विदन्ति ॥

अध्या० उप०। ४.८ तु० = नि० सार। १४७

---

१. यदि पूर्णकालिक सम्भव न हो तो शक्ति अनुसार दो-चार घड़ी मात्र के लिए ही करें (वि० आ० भा। २६८३) (३१६६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हृदय में ममत्व भाव का प्रसार रखकर, समता के विना की गयी सामायिक वास्तव में मायिक अर्थात् दम्भ है। समतायुक्त साधु-जनों के समान सद्गुणों का लाभ हो जाने पर ही सामायिक शुद्ध कही जाती है।

१९० सामाइयं उ कए, समणो इव सावहो हवइ जम्हा ।
एएण कारणेण बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

वि० आ० भा० ।२६९० (३१७३) मू० आ० । ५३१ (७. ३९)

सामायिके तु कृते श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥

सामायिक के समय श्रावक श्रमण के तुल्य हो जाता है। इसलिए सामायिक दिन में अनेक वार[1] करनी चाहिए।

१०. समिति-सूत्र (यतना-सूत्र)

१९१. इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥

१९२. एयाओ पंचसमिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो ॥

उत्तरा० । २४.२, २६ तु० = मू० आ । १०+३३०–३३१[3]

ईर्याभाषैणाऽऽदाने उच्चारे समितिः इति ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च अष्टमी ॥
एताः पंचसमितयः चरणस्य च प्रवर्त्तने ।
गुप्तयः निवर्तने प्रोक्ताः अशुभार्थेषु सर्वशः ॥

(चलने बोलने खाने आदि में यत्नाचार पूर्वक वरतना[2] समिति कहलाती है।) वह पाँच प्रकार की है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उच्चार प्रतिष्ठापन। मन वचन व काय को वश में रखना ये तीन गुप्तियाँ हैं। पंच समितियाँ तो चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्ति परक हैं और गुप्तियाँ समस्त अशुभ व्यापारों के प्रति निवृत्तिपरक हैं।

---

१. प्रभात, मध्याह्न व सन्ध्या इन तीनों सन्धिकालों में सामायिक करने का व्यवहार है।
२. दे० गा० १५१-१५२ ३. मू० आ० । (१.१२ + ५. १५२-१५३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१९३. फासुयमग्गेण दिवा, जुवंतरप्पहेणा सकज्जेण ।
जंतूण परिहरंति, इरियासमिदी हवे गमणं ।।

मू० आ० । ११. (१.१३) तु०=उत्तरा० । २४.७

प्रासुकमार्गेण दिवा युगन्तरप्रेक्षिणा सकार्येण ।
जन्तून परिहरता ईर्यासमितिः भवेद् गमनम् ।।

जिसमें जीव-जन्तुओं का आना-जाना प्रारम्भ हो गया है, ऐसे प्रासुक मार्ग से, दिन के समय अर्थात् सूर्य के प्रकाश में, चार हाथ परिमाण भूमि को आगे देखते हुए चलना, **ईर्या समिति** कहलाता है। (कोई क्षुद्र जीव पाँव के नीचे आकर मर न जाये ऐसा प्रयत्न रखना ईर्या समिति है) ।

१९४. पेसुण्णहासकक्कस-परणिदाप्पप्पसंसाविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ।।

मू० आ० । १२ (१.१४) तु०=उत्तरा० । २४.१०+
दशवै० । ७.३.५६ व ९.३.९ इन सवका संग्रह

पैशून्यहास्यकर्कश-परनिन्दाऽऽत्मप्रशंसाविकथादीन् ।
वर्जयित्वा स्वपरहितं भाषासमितिः भवेत् कथनम् ।।

(किसीको मेरे वचन से कोई पीड़ा न पहुँचे, इस उद्देश्य से साधु)—

पैशून्य, उपहास, कर्कश, पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, राग-द्वेष-वर्धक चर्चाएँ, आदि स्व-पर अनिष्टकारी जितने भी वचन हो सकते हैं, उन सबका त्याग करके, प्रयत्नपूर्वक स्व-पर हितकारी ही वचन बोलता है। यही उसकी **भाषा समिति** है।

१९५. उद्देसियं कीयगडं पूइकम्मं च आहडं ।
अज्झोयरपामिच्चं मीसजायं विवज्जए ।।

दशवै० । ५.१.५५ तु०=मू० आ० । (८.४७)

औद्देशिकं क्रीतकृतं पूतिकर्म च आहृतम् ।
अध्यवपूरकं प्रामित्यं मिश्रजातं विवर्जयेत् ।।

६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(दातार पर किसी प्रकार का भार न पड़े इस उद्देश्य से) साधु जन निम्न प्रकार के आहार अथवा वसतिका आदि का ग्रहण नहीं करते हैं—जो गृहस्थ ने साधु के उद्देश्य से तैयार किये हों, अथवा उसके उद्देश्य से ही मोल या उधार लिये गये हों, अथवा निर्दोष आहारादि में कुछ भाग उपरोक्त दोष युक्त मिला दिया गया हो, अथवा साधु के निमित्त उसके समक्ष लेकर खड़ा हो, अथवा अपने लिए वनाये गये में इस उद्देश्य से कुछ और अधिक मिला दिया गया हो कि साधु आयेंगे तो उन्हें भी देना पड़ेगा, अथवा स्वयं व साधु दोनों को लक्ष्य में रखकर वनाया हो, इत्यादि। यही साधु की **एषणा समिति** कहलाती है।

[साधु-जन शरीर के लिए नहीं, वल्कि संयम-रक्षा के लिए भोजन करते हैं। भ्रमर की भाँति वे इस प्रकार भिक्षा-चर्या करते हैं कि किसी पर किसी प्रकार का भी भार न पड़े। तथा भिक्षा में रूखा-सूखा सरस या नीरस, ठण्डा या गर्म जैसा भी मिल जाये, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं।[1]]

१९६. चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइये निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया ।।

उत्तरा०। २४.१४ तु०=मू० आ०। १४ (१.१६)

चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यतिः।
आददाति निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ।।

साधु के पास अन्य तो कोई परिग्रह होता ही नहीं। संयम व शौच के उपकरणभूत रजोहरण, कमण्डलु, पुस्तक आदि मात्र होते हैं। उन्हें उठाते-धरते समय वह स्थान को भली प्रकार झाड़ लेता है, ताकि उनके नीचे दबकर कोई क्षुद्र जीव मर न जाय। उसकी यह यतना ही **आदान निक्षेपण समिति** कहलाती है।

१९७. एगंते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ, पदिठावणिया हवे समिदी ।।

मू० आ०। १५ (१.१७) तु०=उत्तरा०। २४.१८

---

१. दे० गा० २५२-२५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्ते अचित्ते दूरे गूढे विशाले अविरोधे।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठापनिका भवेत्समितिः ॥

[पास-पड़ोस के किसी भी व्यक्ति को अथवा भूमि में रहने वाले क्षुद्र जीवों को कोई कष्ट न हो तथा गाँव में गन्दगी न फैले, इस उद्देश्य से] साधु अपने मल-मूत्रादि का क्षेपण किसी ऐसे स्थान में करता है, जो एकान्त में हो, जिस पर या जिसमें क्षुद्र जीव न घूम-फिर या रह रहे हों, जो दूसरों की दृष्टि से ओझल हो, विशाल हो और जहाँ कोई मना न करता हो। इस प्रकार की यतना ही उसकी **प्रतिष्ठापना समिति** कहलाती है।

११. गुप्ति (आत्म-गोपन)-सूत्र

१९८. जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा, मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥

मू० आ०। ३३२ (५.१५४) तु०=उत्तरा०। २४.२०–२३

या रागादिनिवृत्तिर्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिं।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वचोगुप्तिः ॥

मन का राग-द्वेष से निवृत्त होकर (समताभाव में स्थित हो जाना) **मनोगुप्ति** है। असत्य व अनिष्टकारी वचनों की निवृत्ति अथवा मौन[1] **वचन-गुप्ति** है।

१९९. कायकिरियाणियत्ती, काओसग्गे सरीरगुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा, सरीरगुत्ती हवदि एसा ॥

मू० आ०। ३३३ (५.१५५) तु० = उत्तरा०। २४.२४–२५

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिर्भवति एषा ॥

समस्त कायिकी क्रियाओं की निवृत्ति अथवा कायोत्सर्ग निश्चय **काय-गुप्ति** है और हिंसा-असत्य आदि पाप-क्रियाओं की निवृत्ति व्यवहार **काय-गुप्ति** है।

---

१. मौन के लिए दे० गा० २००-२०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. मनो मौन

२००. सुलभं वागनुच्चारं, मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु, योगीनां मौनमुत्तमम् ।।

ज्ञान० सा० । १३.७ तु० = स० श० । १७

वचन को रोक लेना बहुत सुलभ है। ऐसा मौन तो एकेन्द्रियादिकों को (वृक्षादिकों को) भी होता है । देहादि अनात्मभूत पदार्थों में मन की प्रवृत्ति का न होना ही योगियों का उत्तम मौन है।

२०१. जं मया दिस्सदे रूवं, तं ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णं तं, तम्हा जंपेमि केण हं ।।

मो० पा० । २९ तु० = ज्ञा० सा० । १३.८

यत् मया दृश्यते रूपं, तत् न जानाति सर्वथा ।
ज्ञायकं दृश्यते न तत् , तस्मात् जल्पामि केन अहम् ।।

जिस रूप को (देह को) मैं अपने समक्ष देखता हूँ, वह जड़ होने के कारण कुछ भी जानता नहीं है। और इसमें जो ज्ञायक आत्मा है, वह दिखाई नहीं देता। तब मैं किसके साथ बोलूँ ?

१३. युक्ताहार विहार

२०२. इहलोगणिरवेक्खो, अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो, रहिदकसाओ हवे समणो ।।

प्र० सा० । २२६ तु० = दशवै० । ९.३. ५

इहलोकनिरपेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ।।

जो योगी इस लोक के सुख व ख्याति प्रतिष्ठा आदि से निरपेक्ष है, और परलोक विषयक सुख-दुःख आदि की कामना से रहित (अप्रतिबद्ध) है, रागद्वेषादि कषायों से रहित है और युक्ताहार विहारी[1] है, वह श्रमण है ।

---

१. विशेष दे० गा० २५१-२५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ९ :

तप व ध्यान अधिकार

(राज योग)

जीवन की विविध कमजोरियों व भयों को जीतने के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है। अनशन आदि शारीरिक तप वाह्य हैं और प्रायश्चित स्वाध्याय ध्यान आदि मानसिक तप आभ्यन्तर।

मंत्र के जप व तत्त्व-चिन्तन आदि के अभ्यास से योगी धीरे-धीरे निरालम्ब दशा को प्राप्त हो जाता है। तब उसके लिए न कुछ करने को शेष रहता है, न बोलने को और न विचारने को।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. तपोग्नि-सूत्र

२०३. विसयकसायविणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ॥

वा० अणु०। ७७ तु०=अध्या० सा०। १८.१५६

विषयकषायविनिग्रहभावं, कृत्वा ध्यानस्वाध्यायैः।
यः भावयति आत्मानं, तस्य तपः भवति नियमेन ॥

पाँचों इन्द्रियों को विषयों से रोककर और चारों कषायों का निग्रह करके, ध्यान व स्वाध्याय के द्वारा जो निजात्मा की भावना करता है, उसको नियम से तप होता है।

२०४. अज्झवसाणविसुद्धीए, वज्जिदा जं तवं विगट्ठंपि।
कुव्वंति बहिल्लेस्सा, ण होइ सा केवली सुद्धी ॥

भ० आ०। २५७ तु० = अध्या० सा०। १८.१५७

अध्यवसानविशुद्ध्या, वर्जिता ये तपः उत्कृष्टमपि।
कुर्वन्ति बहिर्लेश्याः, न भवति सा केवला शुद्धिः॥

परिणामों की शुद्धि से रहित तथा पूजा और सत्कार आदि में अनुरक्त जो (साधु) उत्कृष्ट भी तप करते हैं, उनके निर्दोष शुद्धि नहीं पायी जाती।

२०५. नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी।
संसारकरणबीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ॥

मरण समाधि। ६२८ तु० = भ० आ०। १४७२

ज्ञानमयवातसहितं, शीलोज्ज्वलं तपो मतोऽग्निः।
संसारकरणबीजं, दहति दवाग्निरिव तृणराशिम् ॥

ज्ञानमयी वायु से सहित शील द्वारा प्रज्वलित की गयी तप रूपी अग्नि संसार के कारण व बीजभूत कर्म-राशि को इस प्रकार भस्म कर देती है, जिस प्रकार वायु के वेग से प्रचण्ड दावाग्नि तृणराशि को भस्म कर देती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०६. जं अन्नाणी कम्मं, खवेहि बहुआहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेण ।।

महा० प्रत्या० । १०१ प्र० सा० । २३८

यं अज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः, क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ।।

[परन्तु अज्ञानी व ज्ञानी के तप में आकाश-पाताल का अन्तर है] अज्ञानी जितने कर्म अनेक कोटि वर्षों में खपाता है, उतने कर्म ज्ञानी मन वचन काय के गोपन द्वारा एक उच्छ्वास मात्र में खपा देता है।

२०७. तस्माद्वीर्यं समुद्रेकादिच्छारोधस्तपो विदुः ।
बाह्य वाक्कायसम्भूतमान्तरं मानसं स्मृतम् ।।

मोक्ष पंचाशत । ४८ तु० = उत्तरा० । ३०.७

आत्म-बल का उद्रेक हो जाने के कारण योगी की समस्त इच्छाएँ निरुद्ध हो जाती हैं। उसे ही परमार्थतः तप जानना चाहिए। वह दो प्रकार का होता है---बाह्य व आभ्यन्तर। कायिक व वाचसिक तप बाह्य है[1] और मानसिक आभ्यन्तर[2]।

२. अनशन आदि तप

२०८. सो नाम अणसणतवो, जेण मणो अमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ।।

मरण समा० । १३४ तु० = का० अ० ४४०-४४१

तन्नाम अनशनतपो, येन मनोऽमंगलं न चिन्तयति ।
येन नेन्द्रियहानियेन च योगा न हीयन्ते ।।

सच्चा अनशन तप वह है, जिसमें मन किसी प्रकार के अमंगल का चिन्तवन न करे, जिसमें इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो और जिसमें योग या साधना में किसी प्रकार की हानि न हो।

---

१. बाह्य तप छह प्रकार का है – अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त देश सेवित्व तथा काय-क्लेश। इनका कथन आगे क्रम से किया गया है।

२. आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है – प्रायश्चित, विनय, वैयवृत्या (सेवा), कायोत्सर्ग, स्वाध्याय व ध्यान। इनका भी कथन आगे क्रम से किया जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०९. छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं, अबहुसुयस्स जो सोही।
तत्तो बहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ।।

मरण समा०। १३१

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैरबहुश्रुतस्य या शुद्धिः।
ततो बहुतरगुणिता, भवेत् जिमितस्य ज्ञानिनः।।

[यद्यपि आत्मबल की वृद्धि के अर्थ योगी जन अनशन तप अवश्य करते हैं, परन्तु इसमें भोजन-त्याग का अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि] दो-तीन-चार व छह छह दिन के अनशन से भी अज्ञानी को जितनी शुद्धि होती है, उससे अनेक गुणा शुद्धि तो नित्याहारी ज्ञानी को सहज ही होती है।

—(एक दो आदि ग्रासों के क्रम से आहार को धीरे धीरे घटाना **ऊनोदरी** नामक द्वितीय तप है।)

—(अमुक विधि से अमुक प्रकार का आहार भिक्षा में मिलेगा तो लेंगे अन्यथा नहीं लेंगे, योगी जो आत्म-विश्वास की अभिवृद्धि के लिए इस प्रकार के अटपटे अभिग्रह धारण करता है, वह **वृत्ति-परिसंख्यान** नामक तृतीय तप है।)

—(दूध, दही, घी, तेल, शक्कर व नमक इन छह रसों में से एक-दो को अथवा छहों को छोड़ कर नीरस आहार ग्रहण करना **रस-परित्याग** नामक चतुर्थ तप है।)

३. विविक्त देश-सेवित्व

२१०. लोइयजणसंगादो, होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो।
लोइयसंगं तम्हा, जोइ वि तिविहेण मुंचाओ ।।

र० सा०। ४२ तु० = उत्तरा०। १५.६

लौकिकजनसंसर्गात्, भवति मतिमुखर-कुटिलदुर्भावः।
लौकिकसंसर्गं तस्मात्, योगी अपि त्रिविधेन मुंचेत् ।।

लौकिक मनुष्यों की संगति से मनुष्य अधिक बोलने वाला वतक्कड़, कुटिल परिणाम और दुष्ट भावों से प्रायः अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं। इसलिए, मुमुक्षु जनों को मन वचन काय से लौकिक संगति का त्याग कर देना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२११. एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥

उत्तरा०। ३०.२८ तु० = का० अ०। ४४९

एकान्तेऽनपाते, स्त्रीपशुविवर्जिते।
शयनासनसेवनया, विविक्तशयनासनम् ॥

जहाँ किसी का आना-जाना न हो, विशेषतः स्त्री व पशु के संसर्ग से वर्जित हो, ऐसे शून्य व निर्जन स्थान में रहना अथवा सोना-बैठना आदि विविक्त शय्यासन नाम का पंचम तप है।

४. कायक्लेश तप (हठ-योग)

२१२. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥

उत्तरा०। ३०.२७ तु० = मू० आ०। ३५६ (५.१७९)

स्थानानि वीरासनादानि, जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धारयन्ते, कायक्लेशः स आख्यातः ॥

[आत्मबल की वृद्धि के तथा शरीर पर से ममत्व भाव का त्याग करने के अर्थ] योगीजन वीरासन, कुक्कुट आसन, शवासन आदि विविध प्रकार के उत्कट व उग्र आसनों को धारण करके धूप शीत या वर्षा में निर्भय व निश्चल बैठे या खड़े रहते हैं। यही कायक्लेश नामक छठा बाह्य तप है।

(अब क्रम से प्रायश्चित आदि आभ्यन्तर या मानसिक तपों का कथन किया जाता है।)

५. प्रायश्चित्त तप

२१३. कोहादिसगब्भावक्खयपहुदीभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥

नि० सा०। ११४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।
प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिन्ता च निश्चयतः ॥

[मन वचन काय के द्वारा व्यक्ति को नित्य ही जो छोटे बड़े दोष लगते रहते हैं, उनके शोधनार्थ प्रायश्चित्त महा औषधि है।] क्रोधादि रूप स्वकीय दोषों के क्षय की भावना तथा ज्ञान दर्शन आदि निज पारमार्थिक गुणों का चिन्तन करते रहना निश्चय प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

२१४. आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं ।
जे भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥

उत्तरा० । ३०.३१ तु० = मू० आ० । ३६१–३६२[1]

आलोचनार्हादिकं प्रायश्चित्तं तु दशविधम् ।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्, प्रायश्चित्तं तदाख्यातम् ॥

अपने दोषों के शोधनार्थ जो भिक्षु गुरु के समक्ष दोषों की निष्कपट आलोचना करता है, और गुरुप्रदत्त दण्ड को सविनय अंगीकार करता है, अथवा प्रायश्चित्त के शास्त्रोक्त दश भेदों का सम्यक्रीत्या पालन करता है, उसको प्रायश्चित्त नामक तप होता है।

२१५. कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि,
तनू भवन्त्यात्मविगर्हणेन ।
प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषा-
मत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि ॥

घ० १३ । गा० १० तु० = उत्तरा० । २९.५–७, १६

अपनी निन्दा व गर्हा करने से तथा गुरु के समक्ष दोषों का प्रकाशन करने मात्र से किये गये अति दारुण कर्म भी कृश हो जाते हैं।

---

१. मू० आ० । (५.१८४–१८५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. विनय तप

२१६. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्ति भावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥

उत्तरा० ।३०-३२ तु०=भ० आ०। ११९

अभ्युत्थानमंजलिकरणं, तथैवासनदानम्।
गुरुभक्तिभावसुश्रुषा, विनय एष व्याख्यातः ॥

गुरुजनों के आने पर खड़े हो जाना, हाथ जोड़ना, उन्हें बैठने के लिए उच्चासन देना, उनकी भक्ति तथा भावसहित सेवा-सुश्रूषा करना, ये सब विनय नामक आभ्यन्तर तप के लिंग हैं।

२१७. विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जइ, आयरिओ सव्वसंघो य ॥

भ० आ०। १२९ तु० = दश वै०। ९.२. १-२

विनयो मोक्षद्वारं, विनयात् संयमः तपः ज्ञानम्।
विनयेनाराध्यते, आचार्यः सर्वसंघश्च ॥

विनय मोक्ष का द्वार है, क्योंकि इससे संयम, तप व ज्ञान की सिद्धि होती है और आचार्य व संघ की सेवा होती है।

२१८. दंसणणाणे विणओ, चरित्त तव ओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ, पंचमगइणायगो भणिओ ॥

मू० आ०। ३६४ (५.१८७)

दर्शनज्ञाने विनयश्चारित्रतप औपचारिको विनयः।
पंचविधः खलु विनयः, पंचमगतिनायको भणितः ॥

विनय पाँच प्रकार की होती है—दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय. चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। [तहाँ दर्शन आदि पारमार्थिक गुणों के प्रति बहुमान का होना प्रधान, निश्चय या मौलिक विनय है। गुरुजनों, गुणीजनों व वृद्धजनों के प्रति यथायोग्य विनय का होना उसकी साधनभूत उपचार या व्यवहार-विनय है।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. वैयावृत्त्य तप (सेवा योग)

२१९. सेज्जागासणिसेज्जा–उवधीपडिलेहणा उवग्गहिदे।
आहारो सहवायण, विकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥

२२०. उद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगहणारक्खणोवेदं ॥

म० आ० । ३०५–३०६ तु० = उत्तरा० । ३०.३३

शय्यावकाशनिषद्योपधि-प्रतिलेखनोपग्रहः।
आहारौषध बाचनाकिंचनोद्वर्तनादिषु ॥
अध्वानस्तेन-श्वापद-राज-नदी रोधकाशिवे दुर्भिक्षे।
वैय्यावृत्त्ययुक्तं संग्रहणारक्षणोपेतम्।

(इन दो गाथाओं में गुरु-सेवा के विविध लिंगों का कथन है।)

वृद्ध व ग्लान गुरु या अन्य साधुओं के लिए सोने व बैठने का स्थान ठीक करना, उनके उपकरणों का शोधन करना, निर्दोष आहार व औषध आदि देकर उनका उपकार करना, उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें शास्त्र पढ़कर सुनाना, अशक्त हों तो उनका मैला उठाना, उन्हें करवट दिलाना, सहारा देकर बैठाना आदि।

थके हुए साधु के हाथ-पाँव आदि दबाना, नदी से रुके हुए अथवा रोग से पीड़ित साधुओं के उपद्रव यथासम्भव मंत्र-विद्या व औषध आदि के द्वारा दूर करना, दुर्भिक्ष पीड़ित को सुभिक्ष देश में ले जाना आदि सभी कार्य वैयावृत्त्य कहलाते हैं।

२२१. गुणपरिणामो सड्ढा, वच्छल्लं भत्तीपत्तलंभो य।
संधाण तव पूया, अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥

भ० आ । ३०९

गुणपरिणामः श्रद्धा, वात्सल्यं भक्तिः पात्रलम्भश्च।
सन्धानं तपः पूजा, अव्युच्छित्तिः समाधिश्च ॥

वैयावृत्त्य तप में अनेक सद्गुणों का वास है अथवा इससे अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। यथा—गुणग्राह्यता, श्रद्धा, भक्ति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वात्सल्य, सद्पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्वादि गुणों का पुनः संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छित्ति, समाधि आदि।

८. स्वाध्याय तप

२२२. पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सहयरो तस्स ॥

का० अ०। ४६२

पूजादिषु निरपेक्षः, जिनशास्त्रं यः पठति भक्तया।
कर्ममलशोधनार्थं, श्रुतलाभः सुखकरः तस्य ॥

पूजा-प्रतिष्ठा आदि की चाह से निरपेक्ष, जो योगी बहुमान व भक्ति-भाव से अथवा केवल कर्मसल का शोधन करने की भावना से शास्त्रों का पठन व मनन आदि करता है, उसके लिए श्रुत या ज्ञान का लाभ अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

२२३. बारसविहम्मि वि तवे, अब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
नवि अत्थि नवि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥

मरण सभा०। १२९ म० आ०। १०७

द्वादशविधेऽपि तपसि, साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे।
नैवास्ति नापि च भविष्यति, स्वाध्यायसमं तपः कर्म ॥

उपरोक्त बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तपों में स्वाध्याय के समान तपोकर्म न तो है और न कभी होगा।

९. ध्यान-समाधि सूत्र

२२४. सुचिए समे विचित्ते, देसे णिज्जंतुए अणुणाए।
उज्जुअआयददेहो, अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥

म० आ०। २०८९ तु० = अध्या० सा०। १५.८१-८२

शुचिके समे विचित्ते, देशे निर्जन्तुकेऽनुज्ञाते।
ऋजुकायतदेहोऽचलं, बद्ध्वा पल्यंकम् ॥

पवित्र, सम, निर्जन्तुक तथा स्वामी अथवा देवता आदि से जिसके लिए अनुज्ञा ले ली गयी हो, ऐसे स्थान में, शरीर व कमर को सीधा रखते हुए निश्चल पर्यंकासन बाँध कर ध्यान किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२२५. अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात्, स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्बं, तत्त्ववित्तत्त्वमंजसा ।।

योग शास्त्र । १०.५ तु०=ज्ञा० । ३३.४

लक्ष्य के सम्बन्ध से अलक्ष्य का तथा स्थूल के सम्वन्ध से सूक्ष्म का चिन्तवन किया जाता है। तत्वविद् व्यक्ति सालम्व ध्यान से शीघ्र ही निरालम्ब तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

२२६. अनन्यशरणीभूय, स तस्मिल्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे, ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ।।

योग शास्त्र । १०.३ तु० =ज्ञानार्णव । ३१.३७

क्योंकि ध्याता का मन अन्य सब लक्ष्यों की शरण छोड़कर परम तत्त्व में ऐसा लीन हो जाता है, कि ध्याता व ध्यान का भी कोई भेद नहीं रह जाता। वह ध्येय के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है।

२२७. चिंतंतो ससरूवं जिणबिंबं, अहव अक्खरं परमं ।
झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामाइयं ।।

का० अ० । ३७२

चिन्तयन् स्वस्वरूपं जिनबिम्बं, अथवा अक्षरं परमम् ।
ध्यायति कर्मविपाकं, तस्य व्रतं भवति सामायिकं ।।

जो व्यक्ति स्वस्वरूपका व जिनबिम्ब का चिन्तवन, अथवा परम अक्षर ॐकार का जप व ध्यान करता है, अथवा कर्मों के विपाक का ध्यान करता है, उसको 'सामयिक'[१] नामक व्रत होता है।

२२८. किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु, ज्झेये णिरुद्धदिट्ठीओ ।
अप्पाणम्मि सदिं, संधित्ता संसारमोक्खट्ठं ।।

म० आ० । १७०६ तु० = यो० शा० १२.३१-३२

किंचिन् दृष्टिमुपावर्त्य, ध्येये निरुद्धदृष्टिः ।
आत्मनि स्मृतिं संधाय, संसार-मोक्षार्थम् ।।

---

१. सामायिक व्रत के अन्तर्गत भी ध्यान किये जाने का विधान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसकी दृष्टि बाह्य ध्येयों में अटकी हुई है, वह उस विषय से अपनी दृष्टि को कुछ क्षण के लिए हटाकर संसार से मुक्त होने के लिए अपनी स्मृति को आत्मा में लगावे।

२२९. एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम्।
समरसभावं यात:, परमानन्दं ततोऽनुभवेत्॥

योग शास्त्र। १२.५ तु० = ज्ञा०। ३०.५

इस प्रकार क्रमश: ध्यान का अभ्यास करते-करते योगी निरालम्ब को भजने लगता है। और समरस भाव को प्राप्त होकर वह किसी अद्वितीय परमानन्द का अनुभव करने लगता है।

२३०. जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं, तदाहु तं णिच्छयं झाणं॥

द्र० सं०। ५५

यत्किंचिदपि चिन्तयन्, निरीहवृत्ति: भवति यदा साधु:।
लब्ध्वा च एकत्वं, तदा आहु: तत् तस्य निश्चयं ध्यानम्॥

[अभ्यासवश ऊपर उठ जाने पर] साधु जब ध्येय के प्रति एकाग्रचित्त होकर निरीहवृत्ति से किसी भी विषय का चिन्तवन करता है तब वही उसके लिए निश्चय से ध्यान बन जाता है।

२३१. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह, किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्हि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥

द्र० सं०। ५६ तु० = यो० शा०। १२.१९

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत, किमपि येन भवति स्थिर:।
आत्मा आत्मनि रत:, इदं एव परं ध्यानं भवति॥

[इस प्रकार करने से ध्याता एक ऐसी तूष्णी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, कि] वह न तो शरीर से कुछ चेष्टा करता है, न वाणी से कुछ बोलता है और न मन से कुछ चिन्तवन ही करता है। उसके मन वचन व काय स्थिर हो जाते हैं, और उसकी आत्मा आत्मा में ही रत हो जाती है। यही चरम अवस्था का वह परम ध्यान है [जिसे शुक्लध्यान या समाधि कहते हैं।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १० :

सल्लेखना-मरण-अधिकार

(सातत्य योग)

जीना ही नहीं, मरना भी एक कला है। 'अन्त मति सो गति' उक्ति प्रसिद्ध है। जब मृत्यु निश्चित ही है तो क्यों न इस तरह मरा जाय कि मृत्यु की ही मृत्यु हो जाय। इससे पहले कि मृत्यु आँखें दिखाये, योगी स्वयं ही कषाय व आहारादि को क्षीण करके देह का समतापूर्वक त्याग कर देते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए समस्त जीवन की साधना अपेक्षित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१ः आदर्श मरण

२३२. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं।।

मरण समा० । ३२१

धीरेणापि मर्त्तव्यं, कापुरुषेणाप्यवश्य मर्त्तव्यं ।
तस्मादवश्यमरणे वरं खलु धीरत्वेन मर्त्तुम् ॥

क्या धीर और क्या कापुरुष, सबको ही अवश्य मरना है। इसलिए धीर-मरण ही क्यों न मरा जाये।

२३३. इक्कं पंडियमरणं, पडिवज्जइ सुपुरिसो असंभंतो।
खिप्पं सो मरणाणं, काहिइ अंतं अणंताणं।।

मरण समा० । २८०		तु०=मू० आ० । ७७ (२.६४)

एकं पण्डितमरणं, प्रतिपद्यते सुपुरुषः असंभ्रान्तः ।
क्षिप्रं सः मरणानां, करोत्यन्तमनन्तानाम् ॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष एकमात्र पण्डित-मरण का ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि वह शीघ्र ही अनन्त मरणों का अन्त कर देता है।

२३४. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिण्णाय मलावधंसी।।

उत्तरा० । ४.७		तु०=भ० आ० । ७१–७४

चरेत् पदानि परिशंकमानः, यत्किंचित्पाशं इह मन्यमानः ।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयिता, पश्चात् परिज्ञाय मलावध्वंसी ॥

योगी को चाहिए कि वह चारित्र में दोष लगने के प्रति सतत् शंकित रहे, और लोक के थोड़े से भी परिचय को बन्धन मानकर स्वतंत्र विचरे। जब तक रत्नत्रय के लाभ की किंचिन्मात्र भी सम्भावना हो तब तक जीने की बुद्धि रखे अर्थात् शरीर की सावधानी से रक्षा करे, और जब ऐसी आशा न रह जाय, तब इस शरीर को ज्ञान व विवेकपूर्वक त्याग दे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३५. तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं, अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरणं पच्छिंतो, होदि दु सामण्णणिव्विण्णो ॥
भ० आ० । ७६

तस्य न कल्पते भक्तप्रतिज्ञा-मनुपस्थिते भये पुरतः ।
सो मरणं प्रेक्षमाणः, भवति हि श्रामण्यान्निर्विण्णः ॥

परन्तु यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति संयममार्ग में कोई भय न होने पर भी मरने की इच्छा करता है, तो उसे वास्तव में संयम से विरक्त हुआ ही समझो ।

२. देह-त्याग

२३६. संलेहणा य दुविहा, अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भितरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे ॥
मरण समा० । १७६   तु०=भ० आ०।२०६

सल्लेखना च द्विविधा, अभ्यन्तरा च बाह्या चैव ।
अभ्यन्तरा कषाये, बाह्या भवति च शरीरे ॥

सल्लेखना अर्थात् पण्डितमरण दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर व बाह्य । कषायों को कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य ।

२३७. णवि कारणं तणमओ, संथारो णवि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥
महा० प्रत्या० । ९६   तु०=भ० आ० । १६७२

नैव कारणं तृणमयः संस्तारकः, नैव च प्रासुका भूमिः ।
आत्मैव संस्तारको भवति, विशुद्धं मनो यस्य ॥

न तो तृणमय संस्तर ही सल्लेखना-मरण का कारण है और न ही प्रासुक भूमि । जिसका मन शुद्ध है ऐसा आत्मा ही वास्तव में संस्तारक है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३८. कसाए पयणूए किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥

आचारांग। ८.८.३　　　　तु०=भ. आ०। २४७

कषायान् प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहारान् तितिक्षते।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम् ॥

सल्लेखनाधारी क्षपक को चाहिए कि वह कषायों को पतला करे और आहार को धीरे-धीरे घटाता जाय। क्षमाशील रहे तथा कष्ट को सहन करे। क्रमशः आहार घटाने से जब शरीर अति कृश हो जाय तो उसका सर्वथा त्याग करके अनशन धारण कर ले।

३. अन्त मति सो गति

२३९. जो जाए परिणिमित्ता, लेस्साए संजुदो कुणइ कालं।
तल्लेस्सो उववज्जइ, तल्लेस्से चैव सो सग्गे ॥

भ० आ०। १९२२　　　　तु०=संस्तारक प्रकीर्णक। ५२

यो यया परिनिमित्तात्, लेश्यया संयुक्तः करोति कालम्।
तल्लेश्यः उपजायते, तल्लेश्ये चैव सः स्वर्गे ॥

जो व्यक्ति जिस लेश्या या परिणाम से युक्त होकर मरण को प्राप्त होता है, वह अगले भव में उस लेश्या के साथ उसी लेश्यावाले स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

४. सातत्य योग

२४०. जह रायकुलपसूओ, जोग्गं णिच्चमवि कुणई परियम्मं।
तो जिदकरणो जुद्धे, कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥

२४१. इह सामण्णं साधू वि कुणदि, णिच्चमवि जोग परियम्मं।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्संति ॥

यथा राजकुलप्रसूतो योग्यं नित्यमपि करोति परिकर्म्म।
ततः जितकरणो युद्धे कर्मसमर्थो भविष्यति हि ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं श्रामण्यं साधुरपि करोति नित्यमपि योगपरिकर्म्मं ।
ततः जितकरणः मरणे ध्याने समर्थो भविष्यतीति ।।

जिस प्रकार कोई राजपुत्र शस्त्र-विद्या की साधनभूत सामग्री का नित्य अभ्यास करते रहने से शस्त्र-विद्या में निपुण होकर, युद्ध के समय शत्रु को परास्त करने में समर्थ हो जाता है ।

उसी प्रकार साधु भी जीवन पर्यन्त नित्य ही संयम व तप आदि का अभ्यास करते रहने से समता-मार्ग में निपुण होकर, मरण के समय ध्याननिष्ठ होने के योग्य हो जाता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ११ :

धर्म अधिकार

(मोक्ष संन्यास योग)

'धर्म' शब्द स्वभाववाची है, अतः आत्मा का पूर्वोक्त समता स्वभाव ही उसका धर्म है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये दश इसके लिंग हैं।

गृहस्थ के लिए पूर्वोक्त द्वादश व्रत तथा दया दान पूजा आदि, और साधु के लिए व्रत समिति गुप्ति आदि समता स्वभाव को प्राप्त करने के साधन हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. धर्मसूत्र

२४२.(क) धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

का० अ० । ४७८ तु०=उत्तरा० । ९.२०–२१ । १३.२३–३३

धर्मः वस्तुस्वभावः, क्षमादिभावः च दशविधः धर्मः ।
रत्नत्रयं च धर्मः, जीवानां रक्षणं धर्मः ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। (प्रकृत में समता आत्मा का स्वभाव होने से वह उसका धर्म है[१]।) उत्तम क्षमा आदि दश[२], सम्यग्दर्शनादि तीन[३] तथा जीवों की रक्षा (उपलक्षण से अहिंसा आदि पाँच तथा अन्य भी पूर्वोक्त संयम के अंग) ये सब धर्म हैं अर्थात् उस समतामयी स्वभाव के विविध अंग या लिंग हैं।

२४२.(ख) उत्तमखममद्दवज्जव, सच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवतागमकिंचण्हं, बम्हा इदि दसविहो धम्मो ॥

वा० अ० । ७० तु० = समवायांग । १०.१

उत्तमक्षमामार्दवार्जव-सत्यशौचं च संयमः चैव ।
तपस्त्यागं आकिंचन्य, ब्रह्म इति दशविधः धर्मः ॥

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इस प्रकार धर्म दशविध कहा गया है।

२४३. अन्तस्तत्त्व विशुद्धात्मा, बहिस्तत्त्वं दयांगिषु ।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितीयमाश्रयेत् ॥

पं० वि० । ६.६०

अन्तस्तत्त्व रूप समतास्वभावी विशुद्धात्मा तो साध्य है और प्राणियों की दया आदि बहिस्तत्त्व उसके साधन हैं।[४] दोनों के मिलने पर ही मोक्ष होता है। इसलिए अपरम भावी को धर्म के इन विविध अंगों का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।

---

१. दे० गा० ११७ २. दे० गा० २६७–२८५ ३, दे० गा० २०
४. विशेष दे० गा० ३२–४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४४. सद्धं णगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खंतिं णिउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ।।

उत्तरा० । ९.२० तु०= बो० पा० । २७

श्रद्धां नगरं कृत्वा, तपः संवरमर्गलम् ।
क्षान्ति निपुणप्राकारं, त्रिगुप्तयं दुष्प्रधर्षिकम् ।।

श्रद्धा या सम्यक्त्व रूपी नगर में क्षमादि दश धर्म रूप किला बनाकर, उसमें तप व संयम रूपी अर्गला लगायें और तीन गुप्ति रूप शस्त्रों द्वारा दुर्जय कर्म-शत्रुओं को जीतें।

२४५. दाणं पूजा सीलं, उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं, सम्मविणा दीहसंसारं ।।

र० सा० । १० तु० = पिण्ड निर्युक्ति । ९१

दानं पूजा शीलं, उपवासः बहुविधमपि क्षपणमपि ।
सम्यक्त्वयुक्तं मोक्षसुखं, सम्यक्त्वेन विना दीर्घसंसारे ।।

दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास, अनेक प्रकार के व्रत और मुनि लिंग आदि सब एक सम्यग्दर्शन होने पर तो मोक्ष-सुख के कारण हैं और सम्यक्त्व के विना दीर्घ-संसार के कारण हैं।[1]

२४६. यद्यत्स्वानिष्टं, तत्तद्वाक्चित्तकर्म्मभिः कार्यम् ।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिंगम् ।।

ज्ञानार्णव । २. १०.२१

धर्म का यह सर्व प्रधान लिंग है कि जो जो कार्य अपने को अनिष्ट हो, वह दूसरों के प्रति मन से या वचन से या शरीर से स्वप्न में भी न करे।

२४७. दुविहं संजमचरणं, सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे, परिग्गहा-रहिय खलु णिरायारं ।।

चा० पा० । २० तु०=औपपा० सुत्त । १.५७

---

१. वे० गा० ३२४–३२५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विविधं संयमचरणं, सागारं तथा भवेत् निरागारम् ।
सागारं सग्रन्थे, परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम् ॥

संयमचरण या धर्म दो प्रकार का है—सागार व अनगार। सागार धर्म परिग्रह-युक्त गृहस्थों को होता है और अनगार धर्म परिग्रह-रहित साधुओं को।

२. सागार (श्रावक) सूत्र

२४८. नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए।
अहं ण देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त
सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिसामि॥

उपा० द०। १.१२ तु० = सागार धर्मामृत। १.१६

नो खलु अहं तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम् । अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पंचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये ।

जो व्यक्ति मुण्डित यावत् प्रव्रजित होकर अपने को अनगार धर्म के लिए समर्थ नहीं समझता है, वह पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ऐसे द्वादश व्रतों[1] वाले गृहस्थधर्म को अंगीकार करता है।

३. अनगरासूत्र (संन्यास योग)

२४९. समणोत्ति संजदोत्ति य, रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति॥

मू० आ०। ८८६ (८.१२१)

श्रमण इति संयत इति च, ऋषिर्मुनिः साधु इति वीतराग इति ।
नामानि सुविहितानां, अनगारो भदन्तः दान्तो यतिः ॥

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति, ये सब नाम एकार्थवाची हैं।

---

१. दे० गा०१७९-१९०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५०. सीह-गय-वसह-मिय-पसु, मारुद-सुरूवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर सरिसां, परम-पय-विमग्गया साहू ॥
ध० १। गा० ३३ तु० = प्र० व्या०। २.५-१२

सिंह-गज-वृषभ-मृग-पशु, मारुत-सूर्योदधि-मन्दरेन्दु-मणिः।
क्षिति-उरगाम्बर सदा, परमपद-विमार्गणा साधुः ॥

सदा काल परमपद का अन्वेषण करनेवाले अनगार साधु ऐसे होते हैं—१. सिंहवत् पराक्रमी, २. गजवत् रणविजयी-कर्म विजयी, ३. वृषभवत् संयम-वाहक, ४. मृगवत् यथालाभ सन्तुष्ट, ५. पशुवत् निरीह भिक्षाचारी, ६. पवनवत् निर्लेप, ७. सूर्यवत् तपस्वी, ८. सागरवत् गम्भीर, ९. मेरुवत् अकम्प, १०. चन्द्रवत् सौम्य, ११. मणिवत् प्रभापुँज, १२. क्षितिवत् तितिक्षु, १३. सर्पवत् अनिश्चित स्थानवासी, तथा १४. आकाशवत् निरालम्ब।

२५१. ण बलाउसाउअट्ठं, ण सरीरस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं, झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥
मू० आ०। ४८१ (६.६२) तु०=उत्तरा०। ३५.१७

न बलायुः स्वादार्थं, न शरीरस्योपचयार्थं तेजोऽर्थं।
ज्ञानार्थं संयमार्थं, ध्यानार्थं चेव भुंजीत ॥

साधुजन बल के लिए अथवा आयु बढ़ाने के लिए, अथवा स्वाद के लिए अथवा शरीर को पुष्ट करने के लिए, अथवा शरीर का तेज बढ़ाने के लिए भोजन नहीं करते हैं, किन्तु ध्यानाध्ययन व संयम की सिद्धि के लिए करते हैं।

५५२. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥
दशवै०। १.२ तु०=रा० वा०। ९.६.१६

यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमरः आपिबति रसम्।
न च पुष्पं क्लामयति, स च प्रीणाति आत्मानम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे भ्रमर फूलों से रस ग्रहण करके अपना निर्वाह करता है, किन्तु फूल को किसी प्रकार की भी क्षति पहुँचने नहीं देता, उसी प्रकार साधु भिक्षा-वृत्ति से इस प्रकार अपना निर्वाह करता है जिससे गृहस्थों पर किसी प्रकार का भी भार न पड़े।

२५३. अवि सुइयं वा सुक्कं वा, सीयपिंड पुराणकुम्मासं।
अदु बुक्कसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धे दविए॥

आचार। ९.४, गा० १३ तु० = मू० आ०। ८१४ (८.४९) + र० सा०। ११३

अपि सूपिकं वा शुष्कं वा, शीतपिण्डे पुराणकुष्माषं।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, लब्धे पिण्डं अलब्धेः द्रविकः॥

भिक्षा में प्राप्त भोजन में चाहे घी चूता हो, अथवा रूखा सूखा व ठण्डा हो, वह पुराने उड़दों का हो, अथवा धान्य जौ आदि का बना हो, साधु सबको समान भाव से ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त भिक्षा में आहार मिले या न मिले, वे दोनों में समान रहते हैं।

२५४. वासीचन्दणसमाणकप्पे, समतिणमणिमुत्तालोट्ठु कंचणे।
समे य माणावमाणणाए, समियरते समिदरागदोसे॥

प्र० व्या०। २.५.११ तु० = प्र० सा०। २४१ + २०८

वासीचन्दनसमानकल्पः, समतृणमणिमुक्तालोष्ठकांचनः।
समश्च मानापमानयोः शमितरजस्कः शमितरागद्वेषः॥

कोई कुल्हाड़ी से उनके शरीर को चीर दे अथवा चन्दन से लिप्त कर दे, दोनों के प्रति वे समभाव रखते हैं। इसी प्रकार तृण व मणि में, लोहे व सोने में तथा मान व अपमान में सदा सम रहते हैं।

४. पूजा-भक्ति सूत्र

२५५. सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदि भत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥

नि० सा०। १३४ तु० = अध्या० सा०। १५.५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु, यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः।
तस्य तु निर्वृत्तिर्भक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम्॥

जो श्रावक (गृहस्थ) अथवा श्रमण (साधु) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है, अर्थात् हृदय में इन गुणों के प्रति अत्यन्त बहुमान धारण करता है, उस ही परमार्थतः निर्वाण या मोक्ष की भक्ति होती है।

२५६. एया वि सा समत्था, जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण।
पुण्णाणि य पूरेदुं, आसिद्धिपरंपरसुहाणं॥

भ० आ०। ७४६

एकापि सा समर्था, जिनभक्तिः दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यान्यपि पूरयितुं, आसिद्धिः परम्परासुखानाम्॥

अकेली जिन-भक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है। इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है। जब तक साधक को मोक्ष नहीं होता तब तक इसके प्रभाव से वह इन्द्र चक्रवर्ती व तीर्थंकर आदि पदों का उत्तमोत्तम सुख भोगता रहता है।

२५७. आह गुरु पूयाए, कामवहो होइ जइ वि हु जिणाणं।
तह वि तइ कायव्वा, परिणामविसुद्धिहेऊओ॥

सावय पण्णत्ति। ३४६ तु० =स्वयंभू स्तोत्र। ५८

आह गुरु पूजायां, कायवधः भवत्येव यद्यपि जिनानाम्।
तथापि सा कर्तव्या, परिणामविशुद्धिहेतुत्वात्॥

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने में कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होती है, तथापि परिणाम-विशुद्धि का हेतु होने के कारण वह अवश्य करनी चाहिए, ऐसा गुरु का आदेश है।

२५८. आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी चेतिचतुर्विधाः।
उपासकास्त्रयस्तत्र, धन्या वस्तुविशेषतः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५९. ज्ञानी तु शान्तविक्षेपो, नित्यभक्तिर्विशिष्यते ।
अत्यासन्नो ह्यसौ भर्तुरन्तरात्मा सदाशयः ।।

अध्या० सा० । १५.७७–७८

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी व ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों में से प्रथम तीन वस्तु की विशेषता के कारण धन्य हैं। परन्तु जिसके मोह व क्षोभ आदि समस्त विक्षेप शान्त हो गये हैं, जो सम्यग्दृष्टि तथा अन्तरात्मा का भर्ता है, जिसका संसार अति निकट रह गया है, ऐसा ज्ञानी तो अपनी तत्त्वनिष्ठारूप नित्य-भक्ति के कारण ही विशेषता को प्राप्त है।

५. गुरु-उपासना

२६०. जे केइ वि उवएसा, इह परलोए सुहावहा संति ।
विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ।।

वसु० श्रा० । ३३३ तु०=उत्तरा० । १.४६

ये केचिदपि उपदेशाः, इह-परलोके सुखावहाः सन्ति ।
विनयेन गुरुजनेभ्यः, सर्वान् प्राप्नुवन्ति ते पुरुषाः ।।

इस लोक में अथवा परलोक में जीवों को जो कोई भी सुखकारी उपदेश प्राप्त होते हैं, वे सब गुरुजनों की विनय से ही होते हैं।

२६१. सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हलाहलं न मारे,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ।।

दसवै० । ९.१.७ तु०=द० पा० । २४

स्यात् खलु स पावको न दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षेत् ।
स्यात् विषं हलाहलं न मारयेत्,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कदाचित् सम्भव है कि अग्नि जलाना छोड़ दे, अथवा कुपित दृष्टिविष सर्प भी डंक न मारे, अथवा हलाहल विष खा लेने पर भी वह व्यक्ति को न मारे, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं कि गुरु-निन्दक को मोक्ष प्राप्त हो जाय।

६. दया-सूत्र

२६२. तिसिदं वा भुक्खिदं वा, दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया, तस्सेसा होदि अणुकंपा।।

प्र० सा०। २६.९। प्रक्षेपक

तृषितं वा बुभुक्षितं वा,
दुःखितं वा दृष्ट्वा यो हि दुःखितमनाः।
प्रतिपद्यते तं कृपया,
तस्यैषा भवति अनुकम्पा।।

भूखे, प्यासे अथवा किसी दुखी प्राणी को देखकर जिसका मन दुखी हो गया है, ऐसा जो मनुष्य उसकी कृपा-बुद्धि से रक्षा व सेवा करता है, उसको अनुकम्पा होती है।

२६३. जह ते न पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं।।

भक्त० परि०। ९० तु०=पं० विं०। ६.३८

यथा ते न प्रियं दुःखं, ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानाम्।
सर्वादरेणोपयुक्तं, आत्मौपम्येन कुरु दयाम्।।

जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को नहीं है, ऐसा जानकर अत्यन्त आदरभाव से सब जीवों को अपने समान समझकर उनपर दया करो।

७. दान-सूत्र

२६४. ता भुंजिज्जउ लच्छी, दिज्जउ दाणं दयापहाणेण।
जा जलतरंगचवला, दोतिण्णिदिणाणि चिट्ठेइ।।

का० अ०। १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varaṇasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तावत् भुज्यतां लक्ष्मीः, दीयतां दानं दयाप्रधानेन ।
या जलतरंगचपला, द्वित्रिदिनानि तिष्ठति ।।

यह लक्ष्मी जल की तरंगों की भाँति अति चंचल है। दो तीन दिन मात्र ठहरने वाली है। इसलिए जब तक यह आपके पास है, तब तक इसे आवश्यकतानुसार भोगो और साथ-साथ दयाभाव सहित दान में भी खर्च करो।

२६५. जो मुणिभुत्तवसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ।।
र० सा० । २२

यो मुनिः भुक्तावशेषं भुंजति सो भुंजते जिनोपदिष्टम् ।
संसारसारसौख्यं, क्रमशः निर्वाणवरसौख्यम् ।।

जो श्रावक साधु-जनों को खिलाने के पश्चात् शेष बचे अन्न को खाता है वही वास्तव में खाता है। वह संसार के सारभूत देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के उत्तम सुखों को भोगकर क्रम से निर्वाण-सुख को प्राप्त कर लेता है।

८. यज्ञ-सूत्र

२६६. तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती,
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ।।

उत्तरा० । १२.४४ तु०=म० पु० । ६७.२०२–२०३

तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिस्थानं,
योगाः स्रुवः शरीरं करीषांगम् ।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः,
होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ।।

तप अग्नि है, जीव यज्ञ-कुण्ड है, मन वचन व काय ये तीनों योग स्रुवा है, शरीर करीषांग है, कर्म समिधा है, संयम का व्यापार शान्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठ है। इस प्रकार के पारमार्थिक होम से मैं अग्नि (आत्मा) को प्रसन्न करता हूँ। ऐसे ही यज्ञ को ऋषियों ने प्रशस्त माना है।

९. उत्तम क्षमा (अक्रोध)

२६७. तध रोसेण सयं, पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं, करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्जा ॥

भ० आ०। १३६३ तु० = योग शास्त्र। ४.१०

तथा रोषेण स्वयं, पूर्वमेव दह्यते हि कलकलेनैव।
अन्यस्य पुनः दुक्खं, कुर्यात् रुष्टो च न कुर्यात् ॥

तप्त लौहपिण्ड के समान क्रोधी मनुष्य पहले स्वयं सन्तप्त होता है। तदनन्तर वह दूसरे पुरुष को रुष्ट कर सकेगा या नहीं, यह कोई निश्चित नहीं। नियमपूर्वक किसीको दुखी करना उसके हाथ में नहीं है।

२६८. कोहेण जो ण तप्पदि, सुर णर तिरिएहि कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि ॥

का० अ०। ३९४ तु० = उत्तरा०। २९. सूत्र ३६

क्रोधेन यः न तप्यते, सुरनरतिर्यग्भिः क्रियमाणे अपि।
उपसर्गेऽपि रौद्रे, तस्य क्षमा निर्मला भवति ॥

देव मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो मुनि क्रोध से संतप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमा होती है।

२६९. खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

आवश्यक सूत्र। ४.२२.१, तु० = मू० आ०। (२.८)

क्षमयामि सर्वान् जीवान्, सर्वे जीवाः क्षमन्ताम् माम्।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ॥

मैं समस्त जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव भी मुझे क्षमा करें। सबके प्रति मेरा मैत्रीभाव है। आजसे मेरा किसी के साथ कोई वैर-विरोध नहीं है। (इत्याकारक हृदय की जागृति उत्तम क्षमा है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. उत्तम मार्दव (अमानित्व)

२७०. कुलरूवजादिबूद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ।।

वा० अ० । ७२ तु० = उत्तरा० । २९ सूत्र ४९

कुलरूपजातिबुद्धिषु, तपश्रुतशीलेषु गर्वं किंचित् ।
यः नैव करोति श्रमणः, मार्दवधर्मं भवेत् तस्य ।।

आठ प्रकार के मद लोक में प्रसिद्ध हैं—कुल रूप व जाति का मद, ज्ञान तप व चारित्र का मद, धन व बल का मद । जो श्रमण आठों ही प्रकार का किंचित् भी मद नहीं करता है, उसके उत्तम मार्दव धर्म होता है ।

२७१. जो अवमाणकरणं दोसं, परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी, ण गुणचत्तेण माणेण ।।

भ० आ० । १४२९

योऽपमानकरणं दोषं, परिहरति नित्यमायुक्तः ।
सो नाम भवति मानी, न गुणत्यक्तेन मानेन ।।

जो पुरुष अपमान के कारणभूत दोषों का त्याग करके निर्दोष प्रवृत्ति करता है, वही सच्चा मानी है । परन्तु गुणरहित होकर भी मान करने से कोई मानी नहीं कहा जा सकता ।

२७२. असइं उच्चागोए असइं णीयागोए,
णो हीणे णो अइरित्ते ।
णो पीहए इह संखाए,
को गोयावाई को माणावाई ।।

आचार० । २.३ सूत्र १, तु० = भ० आ० । १४२७–२८

१. सम्यग्दृष्टि किसी भी प्रकार का गर्व नहीं करता । वह अपने को तृण के समान मानता है ।—दे० गा० ६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे असकृन्नीचैर्गोत्रे,
नो हीनः नोऽप्यतिरिक्तः ।
न स्पृहयेत् इति संख्याय,
को गोत्रवादी को मानवादी ॥

यह जीव अनेक वार उच्च गोत्र में उत्पन्न हो चुका है, और अनेक वार नीच गोत्र में जन्म ल चुका है। परन्तु वस्तुतः न तो आज तक यह कभी हीन हुआ है और न कभी कुछ वृद्धि को ही प्राप्त हुआ है। अतः हे श्रमण ! तू उच्च जाति आदि को प्राप्त करने की इच्छा न कर। क्योंकि इस तथ्य को जानकर भी कौन पुरुष उच्च गोत्र की इच्छा अथवा उसका मान करेगा ?

११. उत्तम आर्जव (सरलता)

२७३. जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥

का० अ० । ३९६ तु० = उत्तरा० । २९ सूत्र ४८

यः चिन्तयति न वक्रं, न करोति वक्रं न जल्पति वक्रम् ।
न च गोपयति निजदोषम्, आर्जवधर्मः भवेत्तस्य ॥

जो मुनि मन से कुटिल विचार नहीं करता, वचन से कुटिल वात नहीं कहता, न ही गुरु के समक्ष अपने दोष छिपाता है, तथा शरीर से भी कुटिल चेष्टा नहीं करता, उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है।

२७४. जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

महा० प्रत्या० । २२ तु० = बा० अणु० । ७३

यथा बालो जल्पन्, कार्यमकार्यं च ऋजुकं भणति ।
तत्तथाऽऽलोचयेन्मायामद - विप्रमुक्त एव ॥

जिस प्रकार बालक बोलता हुआ कार्य व अकार्य को सरलता से कह देता है, उसी प्रकार सरलता से अपने दोषों की आलोचना करनेवाला साधु माया व मद से मुक्त होता है।

८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. उत्तम शौच (सन्तोष)

२७५. किं माहणा! जोइ समारभन्ता,
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुइट्ठं कुसला वयंति ॥

उत्तरा०। १२.३८ तु० = पं० वि०। १.९५

किं ब्राह्मणा ज्योतिः समारभमाणाः,
उदकेन शुद्धि बाह्यां विमार्गयथ।
यां मार्गयथ बाह्यं विशुद्धि,
न तत् स्विष्टं कुशला वदन्ति ॥

हे ब्राह्मणो ! तुम लोग यज्ञ में अग्नि का आरम्भ तथा जल द्वारा वाह्य शुद्धि की गवेषणा क्यों करते हो ? कुशल पुरुष केवल इस वाह्य शुद्धि को अच्छा नहीं समझत।

२७६. सम-संतोस-जलेण य, जो धोवदि तिण्णलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥

का० अ०। ३९७ तु०=उत्तरा०। १२.४५–४६

समसन्तोषजलेन, यः धोवति तीव्रलोभमलपुंजम्।
भोजनगृद्धिविहीनः, तस्य शौचं भवेत् विमलम् ॥

जो मुनि समताभाव और सन्तोषरूपी जल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के पुंज को धोता है, तथा भोजन में गृद्ध नहीं होता, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।

२७७. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

उत्तरा०। ८.१७ तु०=ज्ञानार्णव। १७.२–३

यथा लाभः तथा लोभः, लोभाल्लोभः प्रवर्धते।
द्विमाषकृतं कार्यं, कोट्या अपि न निष्ठितम् ॥

ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है। देखो ! जिस कपिल ब्राह्मण को पहले केवल दो माशा स्वर्ण की इच्छा थी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा का आश्वासन पाकर वह लोभ बाद में करोड़ों माशा से भी पूरा न हो सका।

२७८. न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मोहाविणो लोभभयावईया,
संतोसिणो ण पकरेंति पावं ।।

सू० कृ०। १.१२.१५ तु०=पं० का०। ता० वृ० टी०। १७३

न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनः लोभभयादतीताः,
संतोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ।।

अज्ञानी जन कितना भी प्रयत्न करें, वे कर्म को कर्म से नहीं खपा सकते। धीर पुरुष ही अकर्म से कर्म को खपाते हैं। कामना और भय से अतीत होकर यथालाभ सन्तुष्ट रहनेवाला योगी किसी भी प्रकार का पाप नहीं करता।

* सत्य, संयम, तप व ब्रह्मचर्य धर्म के लिए दे० अधि० ८–९

१३. उत्तम त्याग

२७९. सव्वे भावे जम्हा, पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेदव्वं ।।

स० सा०। ३४ तु०=वि० आ० भा०। २६३४

ज्ञानं सर्वान्भावान्, प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात् प्रत्याख्यानं, ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम् ।।

अपने से अतिरिक्त सभी पदार्थों को 'ये मुझसे पर हैं' ऐसा जानकर, ज्ञान ही प्रत्याख्यान करता है, इसलिए ज्ञान या आत्मा ही स्वयं स्वभाव से प्रत्याख्यान या त्याग स्वरूप है, ऐसा जानना चाहिए।

२८०. विषयान् साधकः पूर्वमनिष्टत्वधिया त्यजेत्।
न त्यजेन्न च गृह्णीयात्, सिद्धो विन्द्यात् स तत्त्वतः ।।

अध्या० उप०। २.९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि अपरम भाव वाली अपनी पूर्व भूमिका में साधक विषयों को अनिष्ट जानकर उनका त्याग अवश्य करता है और उसे ऐसा करना भी चाहिए[१], परन्तु परमार्थ भूमि के हस्तगत हो जाने के कारण ज्ञानी तो तत्त्वतः सिद्ध व मुक्त ही है। इसलिए वह न तो कुछ त्याग करता है, न ग्रहण।

२८१. णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।।

वा० अ०। ७८ तु०=दे० गा० २८२

निर्वेगत्रिकं भावयति, मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।
यः तस्य भवेत् त्यागः, इति कथितं जिनवरेन्द्रैः ।।

जो जीव पर-द्रव्यों के प्रति ममत्व छोड़कर[२] संसार देह और भोगों से उदासीन[३] हो जाता है, उसको त्यागधर्म होता है।

२८२. जे य कंते पिय भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ।।

दशवै०। २.३ तु०=दे० गा० २८१

यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकरोति।
स्वाधीनान्स्त्यजति भोगान्, स खलु त्यागीत्युच्यते ।।

अपने को प्रिय लगनेवाले भोग प्राप्त हो जाने पर भी जो उनके प्रति हर प्रकार पीठ दिखाकर चलता है, और स्वतंत्र रूप से उनका त्याग कर देता है, (अर्थात् उन पदार्थों की आवश्यकता ही उसे अपने जीवन में प्रतीत नहीं होती है) वही सच्चा त्यागी है।

१४. उत्तम आकिंचन्य (कस्य स्विद्धनम्)

२८३. होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स किंचण्हं ।।

वा० अ०। ७९

---

१. दे० गा० ३१ २. दे० गा० २८३–२८५ ३. दे० गा० १३०–१३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूत्वा च निःसंगो, निजभावं निःगृह्णातु सुख-दुःखम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगारस्तस्य किंचन न हि ।।

जो मुनि सभी प्रकार के परिग्रह या मूर्च्छा[1] से रहित होकर और सुख व दुःख दायक कर्म-जनित निज भावों को रोककर निश्चिन्तता पूर्वक आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

२८४. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं वि ।।

स० सा० । ३८ तु० =आचारांग । ८.६ सूत्र १

अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नैवास्ति मम् किंचिदप्यन्यत् परमाणुमात्रमपि ।।

तत्त्वतः मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ। मेरे सिवाय अन्य कुछ परमाणु मात्र भी यहाँ मेरा नहीं है।

१– [दर्शन ज्ञान युक्त यह शाश्वत आत्मा ही मेरा है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्व बाह्याभ्यन्तर पदार्थ संयोगज होने के कारण स्वरूपतः मुझसे भिन्न हैं।[2]]

२– [जीव अन्य है और शरीर अन्य है, इस प्रकार निश्चित मति वाला ज्ञानी, शरीर को दुःख का कारण जानकर देह का ममत्व छोड़ देता है।[3]]

३– [जिस प्रकार वटवीज से उत्पन्न वृक्ष लम्वी चौड़ी भूमि को घेर लेता है, उसी प्रकार ममतारूपी वीज से उत्पन्न प्रपंच की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।[4]]

२८५. सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो णत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, ण मे डज्झइ किंचण ।।

उत्तरा० । ९.१४ तु०=वा० अ० । ७९

सुखं वसामो जीवामः, येषां नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किंचन ।।

मैं सुखपूर्वक रहता हूँ और सुखपूर्वक जीता हूँ। मिथिला नगरी में मेरा कुछ भी नहीं है। इसलिए इन महलों के जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता है। (राजा जनक का यह भाव ही आकिंचन्य धर्म है।)

---

१. दे० गा० १७६–१७७
२. दे० गा० १०५
३. दे० गा० १०८
४. दे० गा० ११९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय खण्ड

(दर्शन विभाग)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १२ :

द्रव्याधिकार

(विश्व-दर्शन योग)

जैन दर्शन अनेक-द्रव्यवादी है। विजाति की अपेक्षा द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल-परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश व कालाणु। सजातीय की अपेक्षा जीव व परमाणु संख्या में अनन्त अनन्त हैं, कालाणु असंख्यात हैं, और शेष तीन (धर्म, अधर्म और आकाश) एक एक हैं। अनन्त व विभु आकाश के मध्यवर्ती जितने भाग में ये सब अवस्थित हैं, उसे 'लोक' कहते हैं और उसके बाहर शेष अनन्त आकाश 'अलोक' कहलाता है।

गामने के चित्र के अनुसार आकाश का लोकवर्ती यह क्षेत्र पुरुषाकार है, जिसके अधोभाग में नारकीयों का, मध्य भाग में मनुष्यों का व तिर्यंचों का, ऊर्ध्व भाग में देवों का तथा सबसे ऊपर सिद्धों या मुक्त जीवों का आवास है। (दे० गा० ११०)

पु. क्र. सं. 4535
दिनांक........................

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्व-दर्शन

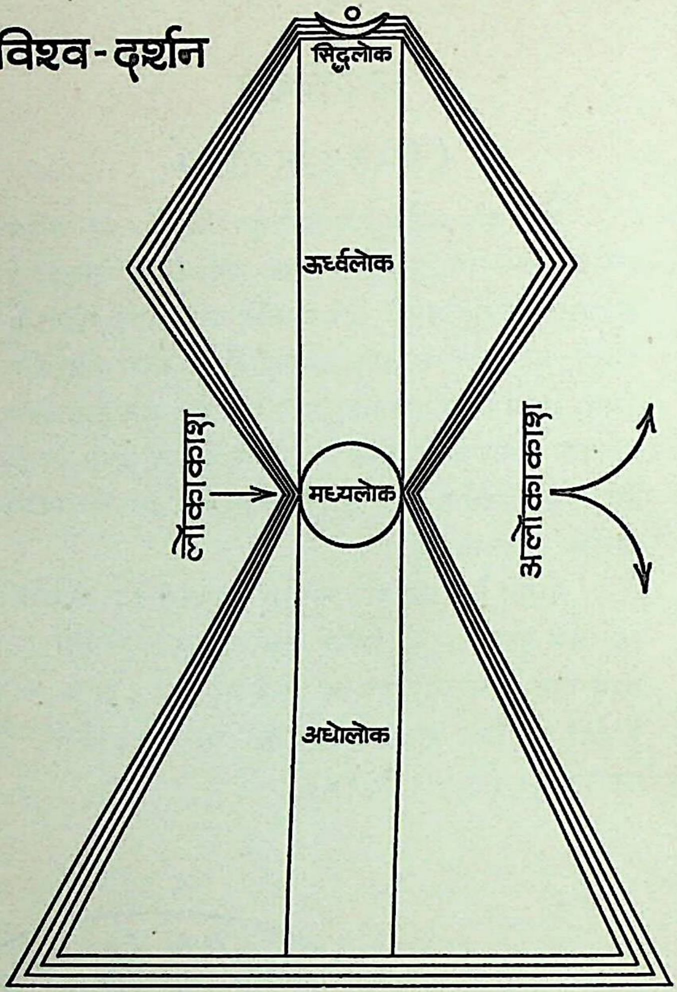

चौदह राजु उत्तंग नभ लोक पुरुष संठान।
तामैं जीव अनादिते भरमत हैं बिन ज्ञान॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. लोक सूत्र

२८६. आदिणिहणेण हीणो, पगदिसरूवेण एस संजादो।
जीवाजीवसमिद्धो, सव्वण्हावलोइओ लोओ॥

ति० प०। १.१३३ तु० = भगवती सूत्र। २.१.९१

आदिनिधनेन हीनः, प्रकृतिस्वरूपेण एष संजातः।
जीवाजीवसमृद्धः, सर्वज्ञावलोकितः लोकः॥

सर्वज्ञ भगवान से अवलोकित यह लोक अनाद्यनन्त, स्वतः सिद्ध और जीव व अजीव द्रव्यों से व्याप्त है।

(यह तीन भागों में विभाजित है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व। अधोलोक में नारकीयों का, मध्य में मनुष्य व तिर्यंचों का तथा ऊर्ध्वलोक में देवों का वास है[1]।)

२८७. धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

उत्तरा०। २८. ७ तु० = नि० सा०। ९

धर्मः अधर्मः आकाशः, कालः पुद्गलाः जन्तवः।
एष लोक इति प्रज्ञप्तो, जिनैर्वरदर्शिभिः॥

धर्म, अधर्म आकाश, काल, अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव, ये छह प्रकार के स्वतः सिद्ध द्रव्य हैं। उत्तम दृष्टि सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान ने इनके समुदाय को ही लोक कहा है।

२८८. जीवा पुग्गलकाया, आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमया, कारणभूदा हि लोगस्स॥

पं० का०। २२

जीवाः पुद्गलकायाः, आकाशमस्तिकायौ शेषौ।
अमया अस्तित्वमयाः, कारणभूता हि लोकस्य॥

इन छह द्रव्यों में से जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म व अधर्म इन पाँच को सिद्धान्त में 'अस्तिकाय' संज्ञा प्रदान की गयी है। काल द्रव्य

---

१. दे० गा० ११०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्व स्वरूप तो है, पर अणु-परिमाण होने से कायवान नहीं है। ये सब अस्तित्वमयी हैं, अर्थात् स्वतः सिद्ध हैं। इसलिए इस लोक के मूल उपादान कारण हैं।

२. जीव द्रव्य (आत्मा)

(जैन दर्शन में 'जीव' शब्द केवल प्राणधारी जीवात्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि उस अमूर्तीक शुद्ध चेतन तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो कि कीट, पतंग आदि अथवा पृथिवी कायिकादि से लेकर मनुष्य पर्यन्त के सभी शरीरों में अहं प्रत्यय के रूप में प्रतीति गोचर होता है।

शरीर व कर्मों की उपाधि से युक्त होकर वही अशुद्ध या संसारी हो जाता है और इनके नष्ट हो जाने पर वही मुक्त संज्ञा को प्राप्त होता है। इन उपाधियों को दृष्टि से ओझल कर देने पर वही वन्ध मोक्ष की कल्पना से अतीत त्रिकाल शुद्ध नित्य निरंजन परमात्मा कहलाता है[1]।

इतनी विशेषता है कि यहाँ यह तत्त्व एक व विभु न होकर प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् अवस्थित होने के कारण संख्या में अनन्त हैं।)

२८९. कत्ता भोत्ता अमुत्तो, सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणउवओगो, जीवो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥

भा० पा०। १४८ तु० = अध्या० सा०। १८.३८–३९, सन्मति। १.५१

कर्ता, भोक्ता अमूर्त्तः, शरीरमात्रः अनादिनिधनः च।
दर्शनज्ञानोपयोगः, जीवः निर्दिष्टः जिनवरेन्द्रैः॥

जीव या आत्मा आकाशवत् अमूर्तीक है और (देह में रहता हुआ) देह-प्रमाण है। यह अनादि निधन अर्थात् स्वतः सिद्ध है। ज्ञान व दर्शन रूप उपयोग ही उसका प्रधान लक्षण है। (देहधारी) वह अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा उनके सुख-दुःख आदि फलों का भोक्ता भी है।

२९०. अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

स० सा०। ४९ तु० = आचारांग। ५.६ सूत्र ६

---

१. दे० गा० ३४२–३४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीहि अलिंगग्रहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥

[जीव द्रव्य इतना निर्विकल्प है कि नेति का आश्रय लिये विना उसका कथन किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है] वह अरस है, अरूप है, अगन्ध है, अव्यक्त है, अशब्द है तथा अनुमान ज्ञान का विषय न होने से मन-वाणी के अगोचर है। वह न तिकोन है, न चौकोर आदि अन्य किसी संस्थान वाला। (वह अबद्ध है, अस्पृष्ट है, अनन्य व अविशेष है[1]।) चेतना मात्र ही उसका निज स्वरूप है।

२९१. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ॥

आचारांग। ५. ६ सूत्र ६ तु० = आराधनासार। ८१

सर्वे स्वराः निवर्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते।
मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः ॥

(शास्त्र केवल मनुष्यादिक व्यवहारिक जीवों का ही विस्तार करने वाले हैं[2]। इन सर्व विकल्पों से अतीत) मुक्तात्मा का स्वरूप वतलाने में सभी शब्द निवृत्त हो जाते हैं, तर्क वहाँ तक पहुँच नहीं पाता, और बुद्धि की उसमें गति नहीं। वह मात्र चिज्ज्योति स्वरूप है।

२९२. आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥

प्र० सा०। २३ तु० = आचारांग। ५. ५ सूत्र ७

आत्मा ज्ञानप्रमाणं, ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्।
ज्ञेयं लोकालोकं, तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥

आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, और ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है। इसलिए ज्ञान सर्वगत है।

---

१. दे० गा० ८१

२. दे० गा० ३७१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२९३. जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तं देही देहत्थो, सदेहमित्तं पभासयदि ॥

पं० का०। ३३ तु० = राय पएस० सुत्त। १८७

यथा पद्मरागरत्नं, क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरम्।
तथा देही देहस्थः, स्वदेहमात्रं प्रभासयति ॥

(ज्ञानस्वरूप की दृष्टि से यद्यपि आत्मा भी सर्वगत कहा जा सकता है, परन्तु) जिस प्रकार पद्मरागमणि दूध के वर्तन में डाल देने पर उसमें स्थित ही सारे दूध को प्रकाशित करती है, उसके वाह्य क्षेत्र को नहीं; उसी प्रकार यह देहस्थ जीवात्मा भी इस शरीर को अपनी चेतना से प्रकाशित करता हुआ देह प्रमाण ही प्रतिभासित होता है, उससे अधिक नहीं। (देह में रहते हुए भी यह इससे पृथक् एक स्वतंत्र पदार्थ है।)

३. पुद्गल द्रव्य (तन्मात्रा महाभूत)

(पुद्गल जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ वही है, जो कि सांख्य-दर्शन में तन्मात्रा व पंचमहाभूत का। यह दो प्रकार का होता है— परमाणु व स्कन्ध। परमाणुओं के पारस्परिक संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं[२]। और उनके विभाग से वे पुनः परमाणु का रूप धर लेते हैं। इस प्रकार नित्य पूरण व गलन करते रहने के कारण 'पुद्गल' नाम अन्वर्थक है।

रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त होने के कारण यह इन्द्रियग्राह्य है और इसलिए रूपी है। शब्द, अन्धकार, आतप, उद्योत, पृथिवी आदि चतुर्भूत, यह स्थूल शरीर, मन, वाणी, रागद्वेषादि अभ्यन्तर भाव ये सब पुद्गल के ही कार्य माने गये हैं।)

२९४. भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः ॥

रा० वा०। ५.१.२६ तु० = उत्तरा। ३६.११

---

१. दे० गा० ७९-८०
२. दे० गा० ३४९-३५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्पर में मिलकर स्कन्धों या भूतों को उत्पन्न करते हैं[1] और पुनः गलकर परमाणु बन जाते हैं। इस प्रकार नित्य ही पूरण गलनरूप स्वाभाविक क्रिया करते रहने से इस भौतिक द्रव्य की 'पुद्गल' संज्ञा अन्वर्थक है।

२९५. खन्धा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा।।

उत्तरा०। ३६. १० तु० = पं०का०।७४

स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च, तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः, रूपिणश्च चतुर्विधः।।

रूपी द्रव्य अर्थात् पुद्गल चार प्रकार का है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, प्रदेश व परमाणु।

२९६. खंधं सयलसमत्थं, तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो. परमाणु चेव अविभागी।।

पं०का०।७५

स्कन्धः सकलसमस्तस्तस्य, त्वर्धं भणन्ति देश इति।
अर्द्धार्द्धं च प्रदेशः, परमाणुश्चैवाविभागी।।

पृथिवी आदि स्थूल पदार्थ स्कन्ध कहलाते हैं। उसके आधे को देश तथा उसके भी आधे भाग को प्रदेश कहते हैं। जिसका पुनः भेद होना किसी प्रकार भी सम्भव न हो वह परमाणु कहलाता है। (अति स्थूल, स्थूल, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म के भेद से स्कन्ध अनेक प्रकार के हैं।)

२९७. सद्दंधयार - उज्जोय, पभा - छायातवेहिया।
वण्णगंधरसफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।।

नव तत्त्व प्रकरण। ११ तु० = त०सू०। ५.२३–२४

शब्दान्धकारोद्योत-प्रभाच्छायातपाधिकाः।
वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम्।

---

१. परमाणु के पारस्परिक संघात से स्कन्ध बनने की प्रक्रिया के लिए दे० गा० ३४९-३५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप आदि सब पुद्‌गल के कार्य हैं, और वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श ये चार उसके प्रधान लक्षण हैं।

२९८. ओरालियो य देहो, देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ, पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥

प्र०सा०। १७१ तु० = स्थानांग। ५.३९५

औदारिकश्च देहो, देहो वैक्रियकश्च तैजसः।
आहारकः कार्मणः, पुद्‌गलद्रव्यात्मिकाः सर्वे ॥

मनुष्यादि के स्थूल शरीर 'औदारिक' कहलाते हैं और देवों व नारकियों के 'वैक्रियिक'। इन स्थूल शरीरों में स्थित इनमें कान्ति व स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली तेजस शक्ति 'तैजस शरीर' है। योगी जनों का ऋद्धि-सम्पन्न अदृष्ट शरीर 'आहारक' कहलाता है। और रागद्वेषादि तथा इनके कारण से संचित कर्मपुंज 'कार्मण शरीर' माना गया है। ये पाँचों शरीर पुद्‌गल द्रव्य के कार्य हैं।

२९९. जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
जेण दु एंद सव्वे, पुग्गल दव्वस्स परिणामा ॥

स०सा०। ५१+५५ तु० = अध्या०उप०। २.२८–३०

जीवस्य नास्ति रागो, नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
येन एंत सर्वे, पुद्‌गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥

परमार्थतः न तो राग जीव का परिणाम है और न द्वेष और मोह, क्योंकि ये सब पुद्‌गल-द्रव्य के परिणाम हैं।

३००. मूर्तिमत्सु पदार्थेषु, संसारिण्यपि पुद्‌गलः।
अकर्म - कर्मनोकर्म, जातिभेदेषु वर्गणा ॥

गो०जी०। जी०प्र० टीका। ५९४ में उद्धृत

(अधिक कहाँ तक कहा जाय) लोक में जितने भी मूर्तिमान पदार्थ हैं, वे अकर्म रूप हों या कर्म रूप, नोकर्म अर्थात् विविध प्रकार के शरीरों व स्कन्धों रूप हों या विभिन्न जाति की सूक्ष्म वर्गणा रूप, यहाँ तक कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहधारी संसारी जीव भी, इन सबमें पुद्गल शब्द प्रवृत्त होता है। (मन, वाणी[1] व ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म[2] भी पुद्गल माने गये हैं।)

४. आकाश द्रव्य

३०१. चेयण रहियममुत्तं, अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं।
लोयालोयविभेयं, तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥

न०च० । ९८ तु०= उत्तरा०। २८.९

चेतनरहितममूर्त्तमवगाहनलक्षणं च सर्वगतम्।
लोकालोकद्विभेदं, तन्नभोद्रव्यं जिनोद्दिष्टम् ॥

आकाश द्रव्य अचेतन है, अमूर्तीक है, सर्वगत अर्थात् विभु है। सर्व द्रव्यों को अवगाह या अवकाश देना इसका लक्षण है। वह दो भागों में विभक्त है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

३०२. धम्माधम्मौ कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो, ततो परदो अलोगुत्तो ॥

द्र० सं० ।२० तु०= उत्तरा०। ३६.२

धर्माधर्मौ कालः, पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।
आकाशे सः लोकः, ततः परतः अलोकः उक्तः ॥

(यद्यपि आकाश विभु है, परन्तु षट्द्रव्यमयी यह अखिल सृष्टि उसके मध्यवर्ती मात्र अति तुच्छ क्षेत्र में स्थित है) धर्म अधर्म काल पुद्गल व जीव ये पाँच द्रव्य उस आकाश के जितने भाग में अवस्थित हैं, वह 'लोक' है और शेष अनन्त आकाश 'अलोक' कहलाता है।

५. धर्म तथा अधर्म द्रव्य

[धर्म तथा अधर्म ये शब्द यद्यपि सर्वत्र पुण्य व पाप के अर्थ में प्रसिद्ध हैं, और जैन-दर्शन भी इनको इस अर्थ में स्वीकार करता है। परन्तु द्रव्य के प्रकरण में यहाँ इन शब्दों को इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं समझना चाहिए।

आकाशवत् अखण्ड व अमूर्तीक ये दो सत्ताधारी पदार्थ हैं, जो जीवों व पुद्गलों की गति एवं स्थिति में उदासीन रूप से सहकारी होते हैं।

---

१. सर्वार्थसिद्धि । ५.३, ५.१९ २. स० सा० । ४५

९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये यद्यपि व्यापक हैं, परन्तु आकाशवत् विभु न होकर लोकाकाश प्रमाण मध्यम परिमाण वाले हैं। दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत होकर स्थित हैं, फिर भी अपने अपने स्वरूप से परस्पर भिन्न हैं। अखण्ड आकाश में लोक व अलोक का विभाग भी वास्तव में इन्हीं के कारण है।]

३०३. उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणेहिं॥

पं०का०। ८५ तु० = उत्तरा०। २८.९

उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्मं द्रव्यं विजानीहि॥

जिस प्रकार मछली के लिए जल उदासीन रूप से[1] सहकारी है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल दोनों द्रव्यों को[2] धर्म द्रव्य गमन में उदासीन रूप से सहकारी है।

३०४. जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढ़वीव॥

पं०का०। ८६ तु० = उत्तरा०। २८.९

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यं।
स्थितिक्रियायुक्तानां, कारणभुतं तु पृथिवीव॥

धर्म द्रव्य की ही भाँति अधर्म द्रव्य को भी जानना चाहिए। क्रिया-युक्त जीव व पुद्गल के ठहरने में यह उनके लिए उदासीन रूप से सहकारी होता है, जिस प्रकार स्वयं ठहरने में समर्थ होते हुए भी हम पृथिवी का आधार लिये बिना इस आकाश में कहीं ठहर नहीं सकते।

३०५. ण य गच्छदि धम्मत्थो, गमणं ण करेदि अण्णदवियस्य।
हवदि गती स प्पसरो, जीवाणं पुग्गलाणं च॥

पं० का०।८८

---

१. जल मछली को जबरदस्ती नहीं चलाता, मछली स्वयं अपनी शक्ति से चलती है, परन्तु जल न हो तो इच्छा व सामर्थ्य होते हुए भी चल नहीं सकती, इसी प्रकार जीव व पुद्गल अपनी सामर्थ्य से ही चलते हैं, परन्तु धर्म द्रव्य न हो तो वे चल नहीं सकते, यही इसका उदासीन कारणपना है।

२. छह में से ये दो द्रव्य ही क्रियाशील हैं, अन्य चार नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न च गच्छति धर्मास्तिको, गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गतेः स प्रसरो, जीवानां पुद्‌गलानां च ॥

धर्मास्तिकाय न तो स्वयं चलता है और न जीव पुद्‌गलों को जबरदस्ती चलाता है। वह इनकी गति के लिए प्रवर्तक या निमित्त मात्र है। (इसी प्रकार अधर्म द्रव्य को निमित्त मात्र ही समझना चाहिए।)

३०६. जादो अलोगलोगो, जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी ।
दो वि य मया विभत्ता, अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥

पं०का०। ८७

जातमलोकलोकं, ययोः सद्‌भावतश्च गमनस्थिती ।
द्वावपि च मतौ विभक्ता - वविभक्तौ लोकमात्रौ च ॥

वास्तव में देखा जाये तो इन दो द्रव्यों के कारण ही एक अखण्ड आकाश में पूर्वोक्त लोक व अलोक विभाग उत्पन्न हो गये हैं[1]। ये दोनों ही लोकाकाश परिमाण हैं, और एक क्षेत्रावगाही हैं। परन्तु अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा दोनों की सत्ता जुदी-जुदी है। एक का स्वरूप या लक्षण गति हेतुत्व है और दूसरे का स्थिति हेतुत्व।

६. काल द्रव्य

३०७. सब्भावसभावाणं, जीवाणं तह य पोग्गलाणं य ।
परियट्टणसंभूदो, कालो णियमेण पण्णत्तो ॥

पं० का०। २३ तु० = उत्तरा०। २८.१०

सद्‌भावस्वभावानां, जीवानां तथा च पुद्‌गलानां च ।
परिवर्तनसम्भूतः, कालो नियमेन प्रज्ञप्तः ॥

---

१. आकाश के जितने क्षेत्र को घेर कर ये स्थित हैं, उतने मात्र क्षेत्र में ही जीव व पुद्‌गल गति व स्थिति कर सकते हैं, उससे बाहर नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्तास्वभावी[1] जीव व पुद्गलों की वर्तना व परिवर्तना में जो धर्म-द्रव्य की भाँति ही उदासीन निमित्त है, उसे ही निश्चय से काल द्रव्य कहा गया है।

३०८. लोयायासपदेसे, इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥
द्र० सं० । २२

लोकाकाशप्रदेशे, एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः।
रत्नानां राशिः इव, ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ॥

जैन दर्शन काल-द्रव्य को अणु-परिमाण मानता है। संख्या में ये लोक के प्रदेशों प्रमाण असंख्यात हैं। रत्नों की राशि की भाँति लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक, इस प्रकार उसके असंख्यात प्रदेशों पर असंख्यात कालाणु स्थित हैं[2]।

---

१. उत्पाद व्यय ध्रौव्य अर्थात् नित्य परिणमन करते रहना, यह सत्ता का स्वभाव है। दे० गा० ३६५

२. कालाणु क्रियाशील न होने के कारण त्रिकाल वहाँ के-वहाँ अवस्थित हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १३ :

तत्त्वार्थ अधिकार

जैन दर्शन की तात्त्विक व्यवस्था मोक्षमार्गपरक है। तत्त्व नौ हैं। प्रथम दो—जीव व अजीव मूल-द्रव्य वाची हैं। आस्रव, पुण्य, पाप, व बन्ध ये चार संसार व उसके कारणभूत राग द्वेष आदि का निर्देश करके मुमुक्षु को जागृत करने के लिए हैं। संवर व निर्जरा ये दो तत्त्व साधना का विवेचन करते हैं, और अन्तिम मोक्ष तत्त्व उस साधना के फल का परिचय देता है।

तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव कारण-परमात्मा है, जो मुक्त हो जाने पर उसमें अभिव्यक्त हो जाता है, और वह स्वयं कार्य-परमात्मा बन जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यापक एक परमात्मा जैन दर्शन को स्वीकार नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. तत्त्व-निर्देश

३०९. तच्चं तह परमट्ठं, दव्वसहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥

न० च० । ४

तत्त्वं तथा परमार्थः, द्रव्यस्वभावस्तथैव परमपरम्।
ध्येयः शुद्धं परमं, एकार्थो भवन्त्यभिधानानि ॥

तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, परम ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

३१०. जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव ॥

उत्तरा० । २८.१४ तु० = पं० का० । १०८

जीवाजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापाऽऽस्रवस्तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ॥

तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव संवर, निर्जरा व मोक्ष। (आगे क्रमशः इनका कथन किया गया है।)

३११. जीवाजीवौ हि धर्मिणौ, तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति।
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं, सप्तविधमुक्तम् ॥

श्लोक वार्तिक। २.१.४। श्लो० ४८, तु० = सन्मति। १.४६

इन उपर्युक्त नौ तत्त्वों में जीव व अजीव ये प्रथम दो तत्त्व तो धर्मी हैं, और आस्रव आदि शेष उन दोनों के ही धर्म हैं। इस प्रकार ये सात[1] या नौ तत्त्व वास्तव में दो ही हैं—धर्मी व धर्म अथवा जीव तथा अजीव।

३१२. अतः शुद्धनयायत्तं, प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि, यदेकत्वं न मुञ्चति ॥

स० सा० । क० ।७ तु० = अध्या० सा० । १८.६

---

१. पुण्य पाप नामक दो तत्त्व वास्तव में आस्रव तत्त्व के ही विशेष रूप हैं, इसलिए इनको आस्रव में गर्भित कर देने पर तत्त्व नौ की बजाय सात भी कहे जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु निश्चय या शुद्ध दृष्टि से देखने पर तो (दो तत्त्वों को भी कहीं अवकाश नहीं) एकमात्र आत्म-ज्योति ही चकचकाती है, जो इन नव तत्त्वों में धर्मीरूपेण अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती है।

२. जीव-अजीव तत्त्व

३१३. आगासकालपुग्गल-धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्थं भणिदं जीवस्स चेदणदा।।

पं० का०। १२४ तु० = सावय पण्णति। ७८

आकाशकालपुद्गल-धर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं, भणितं जीवस्य चेतनता।।

(पूर्वोक्त छह द्रव्यों में से) आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म ये पाँच द्रव्य जीव-प्रधान चेतन गुण से व्यतिरिक्त होने के कारण अजीव हैं, और जीव द्रव्य चेतन है।

३१४. उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेहि णिच्छयदो।।

का० अ०। २०४

उत्तमगुणानां धामं, सर्वद्रव्याणां उत्तमं द्रव्यम्।
तत्त्वानां परं तत्त्वं, जीवं जानीयात् निश्चयतः।।

ज्ञान दर्शन आनन्द आदि उत्तमोत्तम गुणों का धाम होने से 'जीव' छहों द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और नौ तत्त्वों में सर्वोत्तम या सर्व-प्रधान है।

३१५. जीवादि बहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव-गुणपज्जएहिं वदिरित्तो।।

नि० सा०। ३८

जीवादि बहिस्त्त्वं, हेयमुपादेयमात्मनो ह्यात्मा।
कर्मोपाधिसमुद्भव - गुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[भले इस जीव की तात्त्विक व्यवस्था समझाने के लिए पूर्वोक्त प्रकार[1] व्यवहार से नौ तत्त्वों का विवेचन किया गया हो, परन्तु निश्चय से तो पर्याय-प्रधान[2] होने के कारण] जीवादि नौ तत्त्व आत्मा से बाह्य हैं। कर्मों की उपाधि से उत्पन्न होने वाले समस्त व्यावहारिक गुणों व पर्यायों से व्यतिरिक्त, एक मात्र शुद्धात्म-तत्त्व ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सब हेय हैं।

३. आस्रव तत्त्व (क्रियमाण कर्म)

३१६. रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं।
आसवदारेहिं अविगुहेहिं, तिविहेण करणेणं ।।

मरण समाधि। ६१२ तु० = त० सू०। ६.१-२

रागद्वेषप्रमत्तं, इंद्रियवशगः करोति कर्माणि।
आस्रवद्वारैरविगूहि - तैस्त्रिविधेन करणेन ।।

राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वश होकर मन, वचन व काय इन तीन करणों के द्वारा सदा कर्म करता रहता है। कर्मों का यह आगमन ही 'आस्रव' शब्द का वाच्य है, जिसके अनेक द्वार हैं।

३१७. इंदियकसायअव्वय, जोगा पंचचउपंचतिन्नि कमा।
किरिआओ पणवीसं, इमाउताओ अणुक्कमसो ।।

नव तत्व प्रकरण। ९० तु० = त० सू०। ६.५

इन्द्रियकषायाव्रतयोगाः, पंचचतुः पंचत्रिकृताः।
क्रियाः पंचविंशतिः, इमास्ताः अनुक्रमशः ।।

पाँच इन्द्रिय, क्रोधादि चार कषाय, हिंसा, असत्य आदि पाँच अव्रत तथा पचीस प्रकार की सावद्य क्रियाएँ, ये सब आस्रव के द्वार हैं। इनके कारण ही जीव कर्मों का संचय करता है।

३१८. आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ।
जह नावाइ विणासो, छिद्देहि जलं उयहिमज्झे ।।

मरण समाधि। ६१८ तु० = रा० वा०। १.४.९, १६

---

१. दे० २८-२९ २. दे० गा० ३६७-३७०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रवद्वारैः सदा, हिंसादिकैः कर्ममास्रवति ।
यथा नावो विनाशश्छिद्रैरुदधिमध्ये जलमास्रवन्त्याः ॥

हिंसादिक इन आस्रव-द्वारों के मार्ग से जीव के चित्त में कर्मों का प्रवेश इसी प्रकार होता रहता है, जिस प्रकार समुद्र में सछिद्र नौका जल-प्रवेश के कारण नष्ट हो जाती है।

३१९. जो सम्मं भूयाइं पासइ, भूए य अप्पभूए य ।
कम्ममलेण ण लिप्पइ, सो संवरियासवदुवारो ॥

मरण-समाधि । ६२४ तु० = स० सा० । ७३–७४

यः सम्यग्भूतान् पश्यति, भूतांश्चात्मभूतांश्च ।
कर्ममलेन न लिप्यते, स संवृत्तास्रवद्वारः ॥

जो आत्मभूत और अनात्मभूत सभी पदार्थों को तत्त्व-दृष्टि से देखता है, वह कर्म-मल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके समस्त आस्रव-द्वार रुक जाते हैं।

४. संवर तत्त्व (कर्म-निरोध)

३२०. रुंधिय छिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि ।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होई ॥

न० च० । १५६ तु० = दे० गा० ३२१

रुन्धित्वा छिद्रसहस्राणि, जलयाने यथा जलं तु नास्रवति ।
मिथ्यात्वाद्यभावे, तथा जीवे संवरो भवति ॥

जिस प्रकार नाव का छिद्र बन्द हो जाने पर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व इन्द्रिय आदि पूर्वोक्त आस्रव-द्वारों के रुक जाने पर कर्मों का आस्रव भी रुक जाता है। और यही उनका संवरण या संवर कहलाता है।

३२१. पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो, जोवो हवइ अणासओ ॥

उत्तरा० । ३०.३ तु० = द्र० सं० । ३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचसमितित्रिगुप्तः, अकषायो जितेन्द्रियः ।
अगौरवश्च निश्शल्यः, जीवो भवत्यनास्रवः ।।

पाँच समिति, तीन गुप्ति, कषायनिग्रह, इन्द्रिय-जय, निर्भयता, निश्शल्यता[1] इत्यादि संवर के अंग हैं, क्योंकि इनसे जीव अनास्रव हो जाता है।

३२२. नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुंभंति ।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं ।

मरण समाधि । ६२१ तु० = भ० आ० । १८३७

ज्ञानेन च ध्यानेन च, तपोबलेन च बलान्निरुध्यन्ते ।
इन्द्रियविषयकषाया, धृतास्तुरगा इव रज्जुभिः ।।

जिस प्रकार घोड़े को लगाम के द्वारा बलपूर्वक वश में किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान, ध्यान व तप के द्वारा इन्द्रिय- विषय व कषायों को वलपूर्वक वश करना चाहिए।

३२३. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।

पं० का० । १४२ तु० = दे० गा० ३१९

यस्स न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु ।
नास्रवति शुभाशुभं, समसुखदुःखस्य भिक्षो ।।

परन्तु परम भाव को प्राप्त समता-भोगी जिस भिक्षु को किसी भी द्रव्य के प्रति न राग शेष रह गया है और न द्वेष व मोह, उसके बिना किसी प्रयास के ही शुभ व अशुभ कर्मों का आस्रव रुक जाता है।

५. पुण्य-पाप तत्त्व (दो बेड़ियाँ)

३२४. कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ।।

स० सा० । १४५ तु० = अध्या० सा० । १८.६०

---

१. दे० अधिकार ८ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्ममशुभं कुशीलं, शुभकर्म चापि जानीहि सुशीलं ।
कथं तद्भवति सुशीलं, यत्संसारं प्रवेशयति ।।

अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है, (ऐसा भेद व्यावहारिक जनों को ही शोभा देता है) समता-भोगी के लिए कोई भी कर्म जो संसार में प्रवेश कराये, सुशील कैसे हो सकता है ?

३२५. सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

स० सा० । १४६ तु० = अध्या० सा० । १८.६१

सौर्वणिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं ।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ।।

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती है। इसलिए परमार्थतः शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म जीव के लिए वन्धनकारी हैं ।

३२६. वर जिय पावइँ सुन्दरइँ, णाणिय ताँइँ भणंति ।
जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु, सिवमइ जाइँ कुणंति ।।

प० प्र० । २.५६

वरं जीव पापानि सुन्दराणि, ज्ञानिनः ताणि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु, शिवमतिं यानि कुर्वन्ति ।।

ज्ञानी की दृष्टि में तो वह पाप भी वहुत अच्छा है, जो जीव को दुःख व विषाद देकर उसकी बुद्धि को मोक्षमार्ग की ओर मोड़ देता है ।

३२७. मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ, णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहं रज्जइँ देवि लहु, दुक्खइँ जाइँ जणंति ।।

प० प्र० । २.५७

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि, ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवस्य राज्यानि दत्वा लघु, दुःखानि यानि जनयन्ति ।।

और फिर वह (पापानुवन्धी) पुण्य भी किसी काम का नहीं, जो उसे राज्य-सुख देकर उसमें आसक्ति उत्पन्न करा देता है, जिसके कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(पुण्य क्षीण हो जाने पर) शीघ्र ही वह नरक आदि गतियों के दुःखों को प्राप्त हो जाता है।

[परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुण्य सर्वत्र व सर्वदा इसी प्रकार तिरस्कार के योग्य है :]

३२८. वरं वयतवेहिं सग्गो, मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं॥

मो० पा० ।२५

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः, मा दुक्खं भवतु नरके इतरैः।
छायातपस्थितानां, प्रतिपालयतां गुरुभेदः॥

पाप-कर्मों के द्वारा नरक आदिक के दुःख भोगने की बजाय तो व्रत तप आदि के सम्यक् अनुष्ठान से स्वर्ग प्राप्त करना ही अच्छा है। घाम में बैठ कर प्रतीक्षा करने वाले की अपेक्षा छाया में बैठ कर प्रतीक्षा करने वाले की स्थिति में बड़ा अन्तर है। (इसके अतिरिक्त इस प्रकार का पुण्य परम्परा रूप से मोक्ष का कारण भी हो जाता है।)[1]

६. बन्ध तत्त्व (संचित कर्म)

३२९. एएहिं पंचहिं असंवरेहिं, रयमादिणित्तु अणुसमयं।
चउविह गति पेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारं॥

प्र० व्या०। १.५ अन्तिम गा०, तु० = ध० १५।३४। गा० १८

एतैः तंचभिरसंवरैः, रजमाचित्याऽनुसमयम्।
चतुर्विधगतिपर्यन्त-मनुपरिवर्तन्ते संसारम्॥

हिंसा असत्य आदि पाँच प्रधान असंवर या आस्रवद्वार हैं। इनसे प्रति समय अनुरंजित रहने के कारण जीव नित्य ही कर्म-रज का संचय करके चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

३३०. स्नेहाभ्यक्ततनोरंगं, रेणुनाश्लिष्यते यथा।
रागद्वेषानुविद्धस्य, कर्मबन्धस्तथा मतः॥

अध्या० सा०। १८.११२ तु० = स० सा०। २३७–२४१

---

१. दे० गा० ४०-४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार शरीर पर तेल मल कर व्यायाम करने वाला व्यक्ति रज-रेणुओं से लिप्त होता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति का चित्त राग से अनुविद्ध है, उसी को कर्मों का वन्ध होता है। राग-द्वेष विहीन केवल क्रिया मात्र से नहीं।

३३१. रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो।।

प्र० सा०। १७९ तु० = स्थानांग। २.९६

रक्तो बध्नाति कर्म, मुच्यते कर्मभिः रागरहितात्मा।
एष बन्धसामासो, जीवानां जानीहि निश्चयतः।।

रागी जीव ही कर्मों को वाँधता है, और राग-रहित उनसे मुक्त होता है।[1] परमार्थतः संसारी जीवों के लिए राग ही एक मात्र बन्ध का कारण व वन्धस्वरूप है[2]।

७. निर्जरा तत्त्व (कर्म-संहार)

३३२. तवसा उ निज्जरा इह, निज्जरणं खवणनासमेगट्ठा।
कम्माभावापायणमिह, निज्जरमो जिणा विंति।।

सावय० पण्णति। ८२ तु० = भ० आ०। १८४७–१८४८

तपसा तु निर्जरा इह, निर्जरणं क्षपणं नाश एकार्थाः।
कर्माभावापादानमिह, निर्जरा जिना ब्रुवते।।

तप के प्रभाव से कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरण, क्षपण, नाश, कर्मों के अभाव की प्राप्ति ये सब एकार्थवाची हैं।

३३३. तवसा चेव ण मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
ण हु सोते पविस्संते, किसिणं परिसुस्सदि तलायं।।

भ० आ०। १८५४

× (अ) ज्ञानी कर्म करता हुआ भी अकर्ता है। दे० गा० १४७
(आ) ज्ञानी विषय-सेवन करता हुआ भी असेवक हैं। दे० गा० १३३
(इ) प्रमादी सदा हिंसक है, अप्रमादी नहीं। दे० गा० १६७

१. ज्ञानी के कर्म निर्जरा के कारण हैं। दे० गा० १३४

२. राग द्वेष ही दो महापाप हैं। दे० गा० ११८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तपसा चैव न मोक्षः, संवरहीनस्य भवति जिनवचने।
न हि स्रोतसि प्रविशन्ति, कृत्स्नं परिशुष्यति तडागम् ॥

जिस प्रकार तालाब में जल का प्रवेश होता रहने पर, जल निकास का द्वार खोल देने से भी वह सूखता नहीं है, उसी प्रकार संवर-हीन अज्ञानी को केवल तप मात्र से मोक्ष नहीं होता।

३३४. जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचिणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥

३३५. एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जई ॥

उत्तरा०। ३०.५–६ तु० = पं० का०। १४४

यथा महातडागस्य सन्निरुद्धे जलागमे।
उत्सिंचनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥
एवं तु संयतस्यापि, पापकर्म निरास्रवे।
भवकोटिसंचितं कर्मं, तपसा निर्जीयते ॥

जिस प्रकार किसी बड़े भारी तालाब में जलागमन के द्वार को रोक कर उसका जल निकाल देने पर वह सूर्य ताप से शीघ्र ही सूख जाता है।

उसी प्रकार संयमी साधु पाप-कर्मों के द्वार को अर्थात् राग-द्वेष को[1] रोक कर तपस्या के द्वारा करोड़ों भवों के संचित कर्मों को नष्ट कर देता है।

—[अज्ञानी जितने कर्म करोड़ों भवों में खपाता है, ज्ञानी त्रिगुप्ति रूप संवर-युक्त होकर उतने कर्म उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है।[2]]

८. मोक्ष तत्त्व (स्वतन्त्रता)

३३६. सेणावतिम्मि निहते, जहा सेणा पणस्सती।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

दशाश्रुत०। ५.१२ तु० = त० सू०। १०.१–२

---

१. राग द्वेष ही दो महापाप हैं। दे० गा० ११८; २. दे० गा० २०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेनापतौ निहते, यथा सेना प्रणश्यति ।
एवं कर्म्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षयं गते ।।

जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना नष्ट हो जाती है या भाग जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेष के कारणभूत मोह-कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सब कर्म-संस्कारों का क्षय स्वतः होता जाता है।

३३७. लाउअ एरण्डफले, अग्गीधूमे उसू धणुविमुक्के ।
गइपुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गती तु ।।

वि० आ० भा० । ३१४१–३१४२ तु० = त० सू० । १०.६–७

अलाबु च ऐरण्डफलमग्निर्धूमश्चेषुर्धनुविप्रमुक्तः ।
गतिः पूर्वप्रयोगेणैवं सिद्धानामपि गतिस्तु ।।

जिस प्रकार मिट्टी का लेप धुल जाने पर तूम्बी स्वतः जल के ऊपर आ जाती है, जिस प्रकार एरण्ड का बीज गर्मी के दिनों में चटख-कर स्वयं ऊपर की ओर जाता है, जिस प्रकार अग्नि की शिखा तथा धूम का स्वाभाविक ऊर्ध्व गमन होता है और जिस प्रकार धनुष्य से छूटे हुए वाण का पूर्व प्रयोग के कारण ऊपर की ओर गमन होता है, उसी प्रकार पूर्व प्रयोगवश सिद्धों की भी ऊर्ध्व गति स्वभाव से स्वतः हो जाती है।

३३८. जावद्धम्मं दव्वं, तावं गंतूण लोयसिहरम्मि ।
चेट्ठंति सव्वसिद्धा, पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा ।।

ति० प० । ९.१६ तु० = विशे० आ० भा० । ३१५९+३१७४–७५

यावद्धर्मो द्रव्यं, तावद् गत्वा लोकशिखरे ।
तिष्ठन्ति सर्वसिद्धाः, पृथक् पृथक् गतसिक्थमूषकगर्भनिभाः ।।

लोक के शिखर पर जहाँ तक धर्म द्रव्य की सीमा है[1] वहाँ तक जाकर सभी मुक्त जीव पृथक् पृथक् स्थित हो जाते हैं। उनका आकार

---

१. गमन के हेतुभूत धर्म-द्रव्य की सीमा का उल्लंघन कोई भी द्रव्य नहीं कर सकता और वह लोक प्रमाण है। इसलिए सिद्धात्माओं की पूर्वोक्त स्वाभाविक ऊर्ध्व गति लोक-शिखर तक ही हो पाती है, उससे आगे नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोम रहित मूषक के आभ्यन्तर आकाश की भाँति अथवा घटाकाश की भाँति चरम शरीर वाला तथा अमूर्तीक होता है।

३३९. जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोगंते ।।

वि० आ० भा०। ३१७६

यत्र च एकः सिद्धस्तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ताः।
अन्योन्यसमवगाढाः स्पृष्टाः सर्वेऽपि लोकान्ते ।।

लोक-शिखर पर जहाँ एक सिद्ध या मुक्तात्मा स्थित होती है, वहीं एक दूसरे में प्रवेश पाकर संसार से मुक्त हो जाने वाली अनन्त सिद्धात्माएँ स्थित हो जाती हैं। चरम शरीराकार इन सबके सिर लोकाकाश के ऊपरी अन्तिम छोर को स्पर्श करते हैं।

३४०. जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीयेसु दड्ढेसु, न जायंति भवांकुरा ।।

दशाश्रुत०। ५.१५ तु० = रा० वा०। १०.२.३

यथा दग्धानां बीजानां, न जायन्ते पुनरंकुराः।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवांकुराः ।।

जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर उनसे अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार कर्मरूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर भवरूपी अंकुर फिर उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् मुक्त जीव फिर जन्म धारण नहीं करते।

३४१. चक्किकुरुफणिसुरिंद-देवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
ततो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि ।।

त्रि० सा०। ५६० तु० = देवेन्द्रस्तव०। २९३

चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु, अहमिन्द्रे यत् सुखं त्रिकालभवं।
ततो अणंतगुणितं, सिद्धानां क्षणसुखं भवति ।।

(अतीन्द्रिय होने के कारण यद्यपि सिद्धों के अद्वितीय सुख की व्याख्या नहीं की जा सकती, तथापि उत्प्रेक्षा द्वारा उसका कुछ अनुमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराया जाता है :) चक्रवर्ती, भोगभूमिया-मनुष्य, धरणेन्द्र, देवेन्द्र व अहमिन्द्र इन सबका सुख पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा अनन्त अनन्त गुना माना गया है। इन सबके त्रिकालवर्ती सुख को यदि कदाचित् एकत्रित कर लिया जाय, तो भी सिद्धों का एक क्षण का सुख उस सबसे अनन्त गुना है।

९. परमात्म तत्त्व

३४२. यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।

स० श०। ३१ तु० = ज्ञा० सा०। १४.८

(कर्म आदि की उपाधियों से अतीत त्रिकाल शुद्ध आत्मा को ग्रहण करने वाली शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से देखने पर) जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इस तरह मैं ही स्वयं अपना उपास्य हूँ। अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है। ऐसी तात्त्विक स्थिति है।

३४३. देहदेवलि जो वसइ, देउ अणाइ अणंतु।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु।।

प० प्र०। १.३३ तु० = योग शास्त्र। १२.८

देहदेवालये यः वसति, देवः अनाद्यनन्तः।
केवलज्ञानस्फुरत्तनुः, स परमात्मा निर्भ्रान्तः।।

जो व्यवहार दृष्टि से देह रूपी देवालय में बसता है, और परमार्थतः देह से भिन्न है, वह मेरा उपास्य देव अनाद्यनन्त अर्थात् त्रिकाल शाश्वत है। वह केवलज्ञान-स्वभावी है। निस्सन्देह वही अचलित स्वरूप कारण-परमात्मा है।

३४४. उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

स० श०। ९८ तु० = दे० गा० ३४५

कारण परमात्मा स्वरूप इस परम तत्त्व की उपासना करने से यह कर्मोपाधियुक्त जीवात्मा भी परमात्मा हो जाता है, जिस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बांस का वृक्ष अपने को अपने से रगड़ कर स्वयं अग्नि रूप हो जाता है। (मोक्ष प्राप्त वह सिद्धात्मा कार्य परमात्मा है)

३४५. ज्ञानं केवलसंज्ञं, योगनिरोधः समग्रकर्म्महतिः।
सिद्धिनिवासश्च यदा, परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥

अध्या० सा०। २०.२४ तु० = दे० गा० ३४४

उस जीवात्मा को ज़ब केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, योगनिरोध के द्वारा समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह जब लोक-शिखर पर सिद्धालय में जा बसता है, तब उसमें ही वह कारण-परमात्मा व्यक्त हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १४ :

सृष्टि-व्यवस्था

सृष्टि-व्यवस्था के विचार में वेदान्तादि अद्वैत दर्शनों को छोड़ कर प्रायः सभी भारतीय दर्शन स्वभाववादी होने के कारण ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। जैनदर्शन इस विषय में स्वभाववादी व कर्म-वादी है।

कार्य-कारण व्यवस्था में इसका 'स्वभाववाद' सत्कार्य-वाद व आरम्भवाद दोनों को स्वीकार करता है। साथ ही इसकी समन्वय-दृष्टि काल, आत्मा, ईश्वर, पुरुषार्थ आदि अन्य अंगों का भी सर्वथा लोप नहीं कर सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. स्वभाव कारणवाद (सत्कार्यवाद)

३४६. भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा, उप्पादवए पकुव्वंति ॥
पं० का०। १५

भावस्य नास्ति नाशो, नास्ति अभावस्य चैव उत्पादः।
गुणपर्यायेषु भावा, उत्पादव्ययान् प्रकुर्वन्ति ॥

सत् का नाश और असत् का उत्पाद किसी काल में भी सम्भव नहीं। सत्ताभूत पूर्वोक्त जीवादि षट् विध पदार्थ अपने गुणों व पर्यायों में स्वयं उत्पन्न होते रहते हैं और विनष्ट होते रहते हैं[1]।

३४७. अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति ॥
पं० का०। ७ तु० = सन्मति। ३.५

अन्योऽन्यं प्रविशन्ति, ददन्त्यवकाशमन्योऽन्यस्य।
मिलन्त्यपि च नित्यं, स्वकं स्वभावं न विजहन्ति ॥

ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करके स्थित हैं, अपने भीतर एक दूसरे को अवकाश देते हैं। क्षीर-नीरवत् परस्पर में मिल कर एकमेक हो जाते हैं। इतना होने पर भी ये कभी अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं[2]।

३४८. उप्पज्जंतो कज्जं, कारणमप्पा णियं तु जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं, एगस्स वि कारणं कज्जं ॥
न० च०। ३६५

उत्पद्यमानः कार्यं, कारणमात्मा निजं तु जनयन्।
तस्मादिह न विरुद्धं, एकस्यापि कारणं कार्यम् ॥

प्रत्येक द्रव्य में उत्पद्यमान उसकी पर्याय तो कार्य है और उसे उत्पन्न करने वाला वह द्रव्य उसका कारण है। इस प्रकार एक ही

---

१. विशेष द्रे० गा० ३६४-३६५
२. चेतन जीव चेतन ही रहता है, और पुद्गल आदि अपने रूप ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ का कार्यरूप व कारणरूप होना विरोध को प्राप्त नहीं होता। (जिससे उसे अपनी सृष्टि के लिए किसी अन्य कारण का अन्वेषण करना पड़े।)

२. पुद्गल कर्तृत्ववाद (आरम्भवाद)

३४९. एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥
३५०. णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा वा विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥
३५१. दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥

प्र० सा०। १६४, १६५, १६७

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं च रूक्षत्वम्।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥
स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥
द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा: वा बादराः ससंस्थानाः।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥

[जैन-दर्शन-मान्य स्वभाववाद की इस प्रक्रिया में पुद्गल (जड़) तत्त्व भी विना किसी चेतन की सहायता के स्वयं ही पृथिवी आदि महाभूतों के रूप में परिणमन कर जाता है। सो कैसे, वही प्रक्रिया इन गाथाओं द्वारा बतायी गयी है।]

परमाणु के स्पर्श-गुण की दो प्रधान शक्तियाँ हैं--स्निग्धत्व व रूक्षत्व अर्थात् (Attractive force and Repulsive force)। ये दोनों सदा स्वतः एक अंश से लेकर दो तीन संख्यात असंख्यात व अनन्त अंशों तक हानि व वृद्धि का अनुभव करती रहती हैं।

परिणामतः अनेक परमाणु तो समान अंशधारी स्निग्ध अथवा समान अंशधारी रूक्ष हो जाते हैं, तथा अनेक असमान अंशवाले हो जाते हैं। दो अंशों का अन्तर होने तक तो वे परस्पर बन्ध के योग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं हो पाते, परन्तु सजातीय या विजातीय स्निग्ध व रूक्ष दो निकट-वर्ती परमाणुओं में जब यह अन्तर दो से अधिक हो जाता है तो चुम्बक-पाषाण की भाँति वे एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर परस्पर में संश्लेष को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार द्व्यणुक को आदि लेकर त्र्यणुक चतुरणुक संख्याताणुक असंख्याताणुक व अनन्ताणुक स्कन्ध इस आकाश में स्वयं होते रहते हैं। इनमें कुछ सूक्ष्म होते हैं और कुछ स्थूल। ये दोनों ही पृथिवी, अप्, तेज व वायु इन चार प्रसिद्ध महाभूतों के रूप में विभक्त हो जाते हैं। तथा त्रिकोण, चौकोण, गोल आदि अनेक आकारों को धारण कर लेते हैं।

३. कर्म-कारणवाद

३५२. जीवहँ कम्मु अणाइ जिय-जणिय उ कम्मु ण तेण।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि, दोहिं वि आइ ण जेण ॥

प० प्र० । १.५९

जीवानां कर्म अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन।
कर्मणा जीवोऽपि जनितो नापि, द्वयोरपि आदिः न येन ॥

हे आत्मन् ! जीवों के कर्म अनादि काल से हैं। न तो जीव ने कर्म उत्पन्न किये हैं और न ही कर्मों ने जीव को उत्पन्न किया है। क्योंकि जीव व कर्म दोनों की ही कोई आदि नहीं है।

३५३. जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥

स० सा० । ८० तु० = अध्या० सा० । १८.११३–११५

जीवपरिणामहेतुं, कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं, तथैव जीवोपि परिणमति ॥

जीव के राग-द्वेषादि आस्रवभूत परिणामों के निमित्त से पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमन करते हैं, और इसी प्रकार जीव भी पुद्गल या जड़ कर्मों के निमित्त से राग-द्वेषादि रूप परिणमन करता है। (ऐसा ही कोई स्वभाव है, जिसमें तर्क नहीं चलता है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३५४. चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीयो अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ।।

उत्तरा० । १३.२४

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च, क्षेत्रं गृहं धन-धान्यं च सर्वम् ।
कर्मात्मद्वितीयः अवशः प्रयाति, परं भवं सुन्दरं पावकं वा ।।

सुन्दर या असुन्दर जन्म धारण करते समय, अपने पूर्व-संचित कर्मों को साथ लेकर, प्राणी अकेला ही प्रयाण करता है। अपने सुख के लिए बड़े परिश्रम से पाले गये दास दासी तथा गाय घोड़ा आदि सब यहीं छूट जाते हैं।

३५५. ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया, पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा, देहंतरसंकमं पप्पा ।।

प्र० सा० । १७०

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः, पुनरपि जीवस्य ।
संजायन्ते देहाः, देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ।।

वे कर्म रूप परिणत पुद्गल स्कन्ध भवान्तर की प्राप्ति होने पर उस जीव के नये शरीर का आयोजन कर देते हैं।

३५६. जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।

३५७. गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं, ततो रागो व दोसो वा ।।

३५८. जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।

पं० का० । १२८-१३०

यः खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणामः ।
परिणामात्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गतिः ।।
गतिमधिगतस्य देहो, देहादिन्द्रियाणि जायन्ते ।
तैस्तु विषयग्रहणं, ततो रागो वा द्वेषो वा ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जायते जीवस्येवं, भावः संसारचक्रवाले।
इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधनः सनिधनो वा।।

संसार स्थित जीव को पूर्व-संस्कारवश स्वयं राग द्वेषादि परिणाम होते हैं। परिणामों के निमित्त से कर्म और कर्मों के निमित्त से चारों गतियों में गमन होना स्वाभाविक है।

गति प्राप्त हो जाने पर देह, तथा देह के होने पर इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, तथा उससे पुनः राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है।

संसाररूपी इस चक्रवाल में इस प्रकार जीव के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। कड़ी-बद्ध अटूट शृंखला की अपेक्षा यह संसार-चक्र अनादि निधन है, और किसी एक भाव या गति आदि की अपेक्षा देखने पर वह सादि सनिधन है।

३५९. विधि सृष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया कर्मवेधसः।।

म० पु०। ४.३७

विधि, सृष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत, कर्म और ईश्वर, ये सब उसी कर्म के पर्यायवाची नाम हैं।

३६०. तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य।
न चैतदसिद्धम्।।

आप्त-परीक्षा। टीका। १।§५१

अब तक कहे गये सर्व प्रकरण पर से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि स्वभाव व कर्म इन दो शक्तियों के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय व जगत् के कारण रूप में, ईश्वर नामक किसी अन्य सत्ता की कल्पना करना व्यर्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १५ :

अनेकान्त-अधिकार

(द्वैताद्वैत)

छह द्रव्यों का व उनके पृथक्-पृथक् गुणों का परिचय अधिकार १२ में दिया जा चुका है। जैन-दर्शन इन दोनों को न कूटस्थ नित्य मानता है, न सर्वथा अनित्य। परिणमन-स्वभावी होने के कारण ये नित्य बदलते जा रहे हैं। जीवद्रव्य पशु से मनुष्य बन जाता है और मनुष्य बालक से वृद्ध। ज्ञान-गुण अविशद से विशद हो जाता है और रस-गुण खट्टे से मीठा। द्रव्य व गुण इन दोनों के परिवर्तनशील ये उत्पन्नध्वंसी कार्य **'पर्याय'** शब्द के वाच्य हैं। सत्ताभूत वस्तु इन तीनों का एक रसात्मक अखण्ड पिण्ड है।

इन्द्रियों द्वारा बालक वृद्धादि द्रव्य-पर्यायें और खट्टा मीठा आदि गुण-पर्यायें ही देखने व जानने में आती हैं, उनमें अनुगत वह द्रव्य व गुण नहीं, जिसमें व जिस पर कि ये तैर रही हैं। अन्वय रूप से अवस्थित वे दोनों त्रिकाल ध्रुव हैं।

पर्यायें उत्पन्नध्वंसी होने के कारण अनित्य हैं और द्रव्य व गुण उनमें अनुगत होने के कारण नित्य। पर्याय एक दूसरे से भिन्न-रूपवर्ती होने के कारण एक-दूसरे के प्रति अतत् स्वरूप हैं और इसलिए अनेक भी, जबकि द्रव्य व गुण इनमें अनुगतरूप से सदा वही रहने के कारण तत् स्वरूप तथा एक-एक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा किसी एक ही पुरुष में पितृत्व व पुत्रत्वादि धर्म विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से देखने पर एक ही वस्तु में ये सभी विरोधी धर्म विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ये सब विश्लेषणकृत विकल्प मात्र हैं। वस्तु तो न नित्य है न अनित्य, न तत् न अतत्, न एक और न अनेक। वह है इन सबका एक रसात्मक अखण्ड पिण्ड, एक जात्यन्तर भाव, बौद्धिक तर्कों, मानसिक विकल्पों व वाचिक भेदों से अतीत। और वस्तु का यह स्वरूप ही है अनेकान्त शब्द का वाच्य, जिसे इस नाम से न सही, पर किसी न किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. द्रव्य-स्वरूप

३६१. तं परियाणहिं दव्वु तुहुं, जं गुणपज्जयजुत्तु ।
सहभुव जाणहि ताहँ गुण, कमभुय पज्जउ वुत्तु ।।

प० प्र०। १.५७

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं, यत् गुणपर्याययुक्तम् ।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ।।

जो गुण और पर्यायों से युक्त होता है, उसे तू द्रव्य जान। जो द्रव्य के साथ सदा काल रहें वे गुण होते हैं। (जैसे जीव का ज्ञान गुण)। तथा द्रव्य व गुण के वे भाव पर्याय कहलाते हैं जो उनमें एक के पश्चात् एक क्रम से उत्पन्न हों (जैसे ज्ञान के विविध विकल्प)। (तात्पर्य यह कि द्रव्य में गुण तो नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य।)

३६२. गुणाणामासओ दव्वं, एगदव्वासिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ।।

उत्तरा०। २८.६ तु० = त० सू०। ५.४१, ४२

गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिताः गुणाः ।
लक्षणं पर्यायाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ।।

द्रव्य गुणों का आश्रय होता है। प्रत्येक द्रव्य के आश्रित अनेक गुण रहते हैं, जैसे कि एक आम्रफल में रूप रसादि अनेक गुण पाये जाते हैं। (द्रव्य से पृथक् गुण पाये नहीं जाते हैं।) पर्यायों का लक्षण उभयाश्रित है[१]।

३६३. ववदेसा संठाणा संखा, विसया य होंति ते बहुगा ।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ।।

पं० का०। ४६

व्यपदेशाः संस्थानानि संख्या, विषयाश्च भवन्ति ते बहुकाः ।
ते तेषामनन्यत्वे, अन्यत्वे चापि विद्यते ।।

---

१. अर्थात् पर्याय दो प्रकार की है—द्रव्य-पर्याय व गुण-पर्याय। (विशेष देखो अंत में शब्दकोश)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य, गुण व पर्याय इन तीनों में भले ही संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन, संस्थान आदि की अपेक्षा भेद रहे, परन्तु प्रदेश भेद न होने के कारण ये वस्तुतः अनन्य हैं।

३६४. एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया, वयणपज्जया वा वि।
तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं॥

सन्मति तर्क। १.३१ तु० = ध०। १ गा०, १९९। ३८६ पर उद्धृत

एकद्रव्ये येऽर्थपर्यायाः, व्यंजनपर्यायाः वापि।
अतीतानागतभूताः, तावत्कं तत् भवति द्रव्यम्॥

एक द्रव्य में जो अतीत वर्तमान व भावी ऐसी त्रिकालवर्ती गुण पर्याय तथा द्रव्य पर्याय होती हैं, उतना मात्र ही वह द्रव्य होता है।

३६५. दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिदिभंगा, हंदि दवियलक्खणं इयं॥

सन्मति तर्क। १.१२ तु० = पं० का०। ११–१२

द्रव्यं पर्ययवियुक्तं, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्ययाः न सन्ति।
उत्पादस्थितिभंगाः, भवति द्रव्यलक्षणमेतत्॥

उत्पन्नध्वंसी पर्यायों से विहीन द्रव्य तथा त्रिकाल ध्रुवद्रव्य से विहीन पर्याय कभी नहीं होती। इसलिए उत्पाद व्यय व ध्रौव्य इन तीनों का समुदित रूप ही द्रव्य या सत् का लक्षण है।

२. विरोध में अविरोध

३६६. न सामान्यात्मनोदेति, न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्यत्युदेति विशेषात्ते, सहैकत्रोदयादि सत्॥

आ० मी०। ५७ तु० = दे० गा० ३९८

[यहाँ यह शंका हो सकती है कि एक ही द्रव्य में एक साथ उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य ये तीन विरोधी बातें कैसे सम्भव हैं? इसका उत्तर देते हैं कि]—

अन्वय रूप से सर्वदा अवस्थित रहने वाला सामान्य द्रव्य तो न उत्पन्न होता है न नष्ट, परन्तु पर्यायरूप पूर्वोत्तरवर्ती विशेषों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा वही नष्ट भी होता है और उत्पन्न भी। इस हेतु से सत् के त्रिलक्षणात्मक होने में कोई विरोध नहीं है।

३६७. जह कंचणस्स कंचण-भावेण अवट्ठियस्स कडगाई।
उप्पज्जंति विणस्संति, चेव भावा अणेगविहा॥

३६८. एवं च जीवदव्वस्स, दव्वपज्जवविसेसभइयस्स।
निच्चत्तमणिच्चत्तं, च होइ णाओवलभंतं॥

सावय पण्णति। १८४, १८५ तु० = आप्त मी०। ५९

यथा कांचनस्य कांचनभावेन अवस्थितस्य कटकादयः।
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चैव भावाः अनेकविधाः॥
एवं च जीवद्रव्यस्य द्रव्यपर्यायविशेषभक्तस्य।
नित्यत्वमनित्यत्वं च भवति न्यायोपलभ्यमानम्॥

जिस प्रकार स्वर्ण स्वर्णरूपेण अवस्थित रहते हुए भी उसमें कड़ा कुण्डल आदि अनेकविध भाव उत्पन्न व नष्ट होते रहते हैं, उसी प्रकार द्रव्य व पर्यायों को प्राप्त जीव द्रव्य का नित्यत्व व अनित्यत्व भी न्याय-सिद्ध है।

३. वस्तु की जटिलता

३६९. पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई मरणकालपज्जंतो।
तस्स उ बालाइया, पज्जवजोया बहुवियप्पा॥

सन्मति तर्क। १.३२

पुरुषे पुरुषशब्दो, जन्मादि-मरणकालपर्यन्तः।
तस्य तु बालादिकाः, पर्ययपोग्या बहुविकल्पाः॥

जन्म से लेकर मरणकाल पर्यन्त पुरुष में 'पुरुष' ऐसा व्यपदेश होता है। बाल युवा आदि उसीकी अनेक विध पर्यायें या विशेष हैं।

३७०. तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो स सामन्नं।
जो विसरिसो विसेसो, स मओऽणत्थंतरं तत्तो॥

वि० आ० भा०। २२०२ तु० = प० मु०। ४.१-२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्माद् वस्तूनामेव, यः सदृशः पर्ययः स सामान्यम् ।
यो विसदृशो विशेषः, स मतोऽनर्थान्तरं ततः ।।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। सदृश रूप से सदा अनुगत रहने-वाला गुण तो सामान्य अंश है और एक-दूसरे से विसदृश ऐसी बाल-वृद्धादि पर्यायें विशेष अंश हैं। दोनों एक-दूसरे से पृथक् कुछ नहीं हैं[1]। (इसलिए वस्तु सामान्यविशेषात्मक है।)

३७१. वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे, तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशांगबाह्यं वा, श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ।।

पं० ध०। उ०। ६१६

तत्त्व वास्तव में वचनातीत है । द्वादशांग वाणी अथवा अंग-बाह्य रूप विशाल आगम केवल स्थूल व व्यावहारिक पदार्थों को ही विषय करता है।

४. अनेकान्त-निर्देश

३७२. न पश्यामःक्वचित् किंचित्, सामान्यं वा स्वलक्षणम् ।
जात्यन्तरं तु पश्यामः, ततोऽनेकान्त हेतवः ।।

सि० वि०। २.१२ तु० = दे० गा० ३७०

(सामान्य व विशेष आदि रूप ये सब विकल्प वास्तव में विश्लेषण कृत हैं) वस्तु में देखने पर न तो वहाँ कभी कुछ सामान्य ही दिखाई देता है और न कुछ विशेष ही। वहाँ तो इन सब विकल्पों का एक रसात्मक अखण्ड जात्यन्तर भाव ही दृष्टिगोचर होता है, और वही अनेकान्त का हेतु है।

३७३. यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत् तदेवा-सत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम् । इत्येकवस्तुनि वस्तु-त्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः ।।

स० सा०। आ०। परिशिष्ट तु० = स्याद्वाद मंजरी। ५ की टीका

जो अखण्ड तत्त्व स्वयं तत् स्वरूप है, वही अतत् स्वरूप है। जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य

---

१. खट्टे मीठे आदि से रहित रस नामक गुण और जिह्वा के विषयभूत रस गुण से व्यतिरिक्त खट्टे मीठे स्वाद अवस्तुभूत हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इस प्रकार वस्तु में वस्तुत्व का दर्शन करानेवाली परस्पर विरुद्ध अनेक शक्तियुगलों का प्रकाशित करना ही अनेकान्त का लक्षण है।

५. अनेकान्त की सार्वभौमिकता

३७४. यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते,
नश्यत्येव न नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्ते प्रतीतिं दृढ़ां,
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते।।

पं० वि०। ८.१३

सिद्ध ज्योति अर्थात् शुद्धात्मा सूक्ष्म भी है और स्थूल भी, शून्य भी है और परिपूर्ण भी, उत्पन्नध्वंसी भी है और नित्य भी, सत् भी है और असत् भी, तथा एक भी है और अनेक भी। दृढ़ प्रतीति को प्राप्त वह किसी बिरले ही योगी के द्वारा देखी जाती है।

३७५. अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत्। वेदोऽअमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्।

दुर्गा सप्तशती। देव्यथर्वशीर्षम्।

मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ। मुझसे ही प्रकृति पुरुषात्मक यह सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्दरूपा हूँ और अनानन्द-रूपा भी। मैं विज्ञानरूपा हूँ और अविज्ञानरूपा भी। मैं जानने योग्य ब्रह्मस्वरूपा हूँ और अब्रह्मस्वरूपा भी। पंच महाभूत भी मैं हूँ और अपंच महाभूत भी। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ। वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं हूँ। अजा और अनजा भी मैं हूँ। नीचे भी मैं हूँ तथा ऊपर तथा अगल-बगल भी मैं ही हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. सापेक्षतावाद

३७६. यथैकशः कारकमर्थसिद्धये,
समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्यविशेषमातृका,
नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पिताः ॥

स्वयंभू स्तोत्र। ६२ तु० = दे० गा० ३७७

जैसे व्याकरण में एक-एक कारक शेष कारकों को सहायक बनाकर ही अर्थ की सिद्धि में समर्थ होता हैं, वैसे ही वस्तु के सामान्यांश और विशेषांश को ग्रहण करने वाले जो प्रधान नय या दृष्टियाँ हैं, वे मुख्य और गौण की कल्पना से ही इष्ट हैं।

३७७. यत्रानर्पितमादधाति गुणतां, मुख्यं तु वस्त्वर्पितं।
तात्पर्यावलम्बनेन तु भवेद्, बोधः स्फुटं लौकिकः ॥

अध्या० सा०। १९.११ तु० = का० अ०। २६४

(यद्यपि वस्तु का कोई भी अंश मुख्य या गौण नहीं होता, परन्तु प्रतिपादन करते समय वक्ता प्रयोजनवश वस्तु के कभी किसी एक अंश को मुख्य करके कहता है और कभी दूसरे को) जिस समय कोई एक अंश अपेक्षित हो जाने से मुख्य होता है, उस समय दूसरा अंश अनपेक्षित होकर गौण हो जाता है, परंतु निषिद्ध नहीं होता है। लोक में भी वक्ता के अभिप्राय को देख कर ही उसकी बात का अर्थ जाना जाता है।

३७८. भिन्नापेक्षा यथैकत्र, पितृपुत्रादिकल्पना।
नित्यानित्याद्यनेकान्त-स्तथैव न विरोत्स्यते ॥

अध्या० उप०। १.३८ तु० = स० सि०। ५.३२

जिस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से देखने पर एक ही व्यक्ति में पितृत्व व पुत्रत्व आदि की कल्पना विरोध को प्राप्त नहीं होती है, उसी प्रकार अनेकान्तस्वरूप एक ही वस्तु में अपेक्षावश नित्यत्व व अनित्यत्व आदि की कल्पनाएँ विरोध को प्राप्त नहीं होती हैं[1]। ●

---

१. विशेष दे० गा० ३६५-३६७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १६ :

एकान्त व नय अधिकार

(पक्षपात-निरसन)

अपेक्षावश वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करने वाला वक्ता का अभिप्राय-विशेष 'नय' कहलाता है। एकांशग्राही होने के कारण यही 'एकान्त' शब्द का वाच्य है। परन्तु इतनी विशेषता है कि दूसरे धर्मों को उस समय गौण करके स्वाभिप्रेत को मुख्य करने वाला वह एकान्त सम्यक् है, और दूसरे धर्मों या पक्षों का सर्वथा लोप करके अपने ही पक्ष का हठ पकड़ने वाला एकान्त मिथ्या है।

तात्त्विक गवेषणा के काल में यह नय-ज्ञान अत्यन्त उपकारी है, जबकि अनेकान्तमयी पूर्वोक्त जात्यन्तरभाव का दर्शन करते समय व्यक्ति नयातीत हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. नयवाद

३७९. णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेव विवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ।।

का० अ०। २६४ तु० = अध्या० उप०। १.३४

नानाधर्मयुतः अपि च एकः धर्मः अपि उच्यते अर्थः ।
तस्य एकविवक्षातः, नास्ति विवक्षा खलु शेषाणाम् ।।

नाना धर्मों से युक्त पदार्थ के किसी एक धर्म को ही मुख्यरूपेण कहने वाला (वक्ता का अभिप्राय विशेष[1]) नय कहलाता है, क्योंकि उस समय उसी एक धर्म की विवक्षा होती है, शेष की नहीं।

३८०. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणान्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।।

स्वयंभू स्तोत्र। १०३ तु० = सन्मति तर्क। ३.२७

अनेकान्त भी वास्तव में प्रमाण और नय, इन दो साधनों के कारण अनेकान्तस्वरूप है। सकलार्थग्राही होने के कारण प्रमाण दृष्टि से अनेकान्त की सिद्धि होती है, जबकि किसी एक विवक्षित धर्म को विषय करने वाले विकलार्थग्राही नय से एकान्त की सिद्धि होती है।

३८१. जावंतो वयणपहा, तावंतो वा नया विसद्दाओ ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदया सव्वे ।।

वि० आ० भा०। २२६२ तु० = गो० क०। ८९४–८९५

यावन्तो वचनपथास्तावन्तो, वा नया अपि शब्दात् ।
त एव च परसमयाः, सम्यक्त्वं समुदिता सर्वे ।।

जगत् में जो कुछ भी बोलने में आता है वह सब वास्तव में किसी न किसी नय में गर्भित है[2]। पृथक् पृथक् रहे हुए ये सभी पर-समय

---

१. प्रमाणनय तत्त्वालंकार। ७.१
२. व्यक्ति सदैव वस्तु के किसी एक अंश को ही लक्ष्य में रख कर बोलता है, इसलिए वे सब वचन-पथ नय में गर्भित हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं, और परस्पर में समुदित हो जाने पर सभी सम्यग्दृष्टि हैं। (कारण अगली गाथा में वताया गया है।)

२. पक्षपात-निरसन

३८२. न समेन्ति न च समेया, सम्मत्तं णेव वत्थुणो गमगा।
वत्थुविघाताय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥

वि० आ० भा०। २२६६ तु० = ध० ९। पृ० १८२

न समयन्ति न च समेताः, सम्यक्त्वं नैव वस्तुनो गमकाः।
वस्तुविघाताय नया, विरोधतो वैरिण इव ॥

परस्पर विरोधी होने के कारण ये नय या पक्ष क्योंकि एक-दूसरे के साथ मैत्रीभाव से मेल नहीं करते हैं और पृथक्-पृथक् अपने-अपने पक्ष का ही राग अलापते रहते हैं, इसलिए न तो सम्यक्भाव को प्राप्त हो पाते हैं, और न अनेकान्तस्वरूप वस्तु के ज्ञापक ही हो पाते हैं, बल्कि वैरियों की भाँति एक-दूसरे के साथ विवाद करते रहने के कारण वस्तु के विघातक वन वैठते हैं।

३८३. सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥

वि० आ० भा०। २२६७ तु० = दे० गा० ३८६

सर्वे समयन्ति सम्यक्त्वं, चैकवशाद् नया विरुद्धा अपि।
भृत्यव्यवहारिण इव, राजोदासीनवशवर्तिनः ॥

किसी एक स्याद्वादी के वशवर्ती हो जाने पर, परस्पर विरुद्ध भी ये सभी नयवाद समुदित होकर उसी प्रकार सम्यक्त्वभाव को प्राप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार राजा के वशवर्ती हो जान पर अनेक अभि-प्रायों को रखने वाला भृत्य-समूह एक हो जाता है। अथवा किसी व्यवहारकुशल निष्पक्ष व्यक्ति को प्राप्त हो जाने पर, धन-धान्यादि के अर्थ परस्पर लड़ते हुए अनेक व्यक्ति, युक्ति द्वारा झगड़ा सुलझा देने के कारण परस्पर पुनः मिल जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८४. अवरोप्परसावेक्खं, णयविसयं अह पमाणविसयं वा ।
तं सावेक्खं तत्तं, णिरवेक्खं ताण विवरीयं ।।
न० च० । २५०

अपरापरसोपेक्षो, नयविषयोऽथ प्रमाणविषयो वा ।
तत्सापेक्षं तत्त्वं, निरपेक्षं तयोर्विपरीतम् ।।

प्रमाण व नय के विषय एक-दूसरे की अपेक्षा से वर्तते हैं। प्रमाण का विषय अर्थात् अनेकान्तात्मक जात्यन्तरभूत वस्तु तो नय के विषय की अर्थात् उसके किसी एक धर्म की अपेक्षा करती है, और नय का विषयभूत एक धर्म तत्सहवर्ती दूसरे नय के विषयभूत अन्य धर्म की अपेक्षा करता है। यही तत्त्व की या नय की सापेक्षता है । इससे विपरीत नय निरपेक्ष कहलाती है ।

३८५. णिरवेक्खे एयन्ते, संकरआदीहि ईसिया भावा ।
णो णिजकज्जे अरिहा, विवरीए ते वि खलु अरिहा ।।
न० च० । ६७

निरपेक्षे एकान्ते, संकरादिभिरीषिता भावाः ।
नो निजकार्येऽर्हाः, विपरीते तेऽपि खल्वर्हाः ।।

नय को निरपेक्ष एकान्तस्वरूप मान लेने पर, अभिप्रेत भी भाव संकर आदि दोषों के द्वारा अपना कार्य करने को समर्थ नहीं हो सकते हैं, और उसे सापेक्ष मान लेने पर वे ही समर्थ हो जाते हैं।

३८६. सापेक्षा नयाः सिद्धा, दुर्नयाऽपि लोकतः ।
स्याद्वादिनां व्यहारात्, कुक्कुटग्रामवासितम् ।।
सि० वि० । १०.२७ तु० = दे० गा० ३८३

इसीलिए लोक में प्रयुक्त पक्षपातपूर्ण प्रायः सभी नय या अभिप्राय दुर्नय हैं। वे ही स्याद्वाद की शरण को प्राप्त होने पर सुनय बन जाती हैं, जिस प्रकार ग्राम या गृहवासी परस्पर मैत्रीपूर्वक रहने के कारण प्रशंसा को प्राप्त होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८७. कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा, समासओ होंति सम्मत्तं॥

सन्मति तर्क। ३.५३ तु० = गो० क०। ८७७–८९५

कालो स्वभावो नियतिः, पूर्वकृतं पुरुषः कारणैकान्ताः।
मिथ्यात्वं ते चैव, समासतो भवन्ति सम्यक्त्वम्॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत अर्थात् कर्म दैव या अदृष्ट, और पुरुषार्थ ये पाँचों ही कारण हर कार्य के प्रति लागू होते हैं। अन्य कारणों का निषेध करके पृथक् पृथक् एक एक का पक्ष पकड़ने पर ये पाँचों ही मिथ्या हैं और सापेक्षरूप से परस्पर मिल जाने पर ये पाँचों ही सम्यक् हैं[1]।

३. नयवाद की सार्वभौमिकता

३८८. बोद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्,
सांख्यानां तत् एव नैगमनयाद्, योगश्च वैशेषिकः।
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः, सर्वैर्नयैर्गुम्फिता,
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता, प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्वते॥

अध्या० सा०। १९.६ तु० = रा० वा०। १.६.१४

(जितने भी दर्शन हैं या होंगे, वे सभी अपने अपने किसी विशेष दृष्टिकोण से ही तत्त्व का निरूपण करते हैं। इसलिए सभी किसी न किसी नय का अनुसरण करते हैं।)

यथा—अनित्यत्ववादी बौद्ध-दर्शन 'ऋजुसूत्र' नय का अनुसरण करता है, अद्वैत व अभेदवादी वेदान्त व सांख्य-दर्शन 'संग्रह' नय का, भेदवादी योग व वैशेषिक-दर्शन 'नैगम' नय का, और शब्दाद्वैतवादी 'मीमांसक' लोग शब्द समभिरूढ़ व एवंभूत नामक तीनों 'शब्द नयों' का अनुसरण करते हैं। परन्तु सर्व नयों से गुम्फित स्याद्वादमयी जैन दृष्टि की सारतरता प्रत्यक्ष ही सर्वोपरि अनुभव में आती है।

---

१. गोम्मटसार में इन पाँच के अतिरिक्त आत्मवाद, ईश्वरवाद व संयोगवाद ये तीन और स्वीकार किये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८९. जमणेगधम्मणो वत्थुणो, तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अन्धव्व गयावयवे, तो मिच्छद्दिट्ठिणो वीसु ।।

वि० आ० भा० । २२६९ तु० = पं० विं । ४.७

यदनेकधर्मणो वस्तुनस्तदंशे, च सर्वप्रतिपत्तिः ।
अन्धा इव गजावयवे, ततो मिथ्यादृष्टयो विष्वक् ।।

जिस प्रकार हाथी को टटोल-टटोल कर देखने वाले जन्मान्ध पुरुष उसके एक एक अंग को ही पूरा हाथी मान बैठते हैं, उसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तु के विषय में अपनी अपनी अटकल दौड़ानेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य वस्तु के किसी एक एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान बैठते हैं।

३९०. परसयएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा ।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ।।

वि० आ० भा० । २२७४ तु० = ध० ९ । पृ० १८२

परसमयैकनयमतं, तत्प्रतिपक्षनयतो निवर्तयेत् ।
समये वा परिगृहीतं, परेण यद् दोषबुद्धया ।।

एकान्त पक्षपाती वे पर-समय या मिथ्यादृष्टि स्वाभिप्रेत एक नय को मान कर उसके प्रतिपक्षभूत अन्य नयों या मतों का निराकरण करने लगते हैं। अथवा दूसरों के धर्म या मत में जो बात ग्रहण की गयी हो, उसमें दोष देखने लगते हैं।

३९१. णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ।।

सन्मति तर्क । १.२८ तु० = क० पा० १ । गा० ११७ । पृ० २५७ पर उद्धृत

निजकवचनीयसत्याः, सर्वनयाः परविचारणे मोहाः ।
तान् पुनः न दृष्टिसमयो, विभजति सत्यानि वा अलीका वा ।।

सभी नय अपने अपने वक्तव्य में सच्चे हैं, परन्तु वे ही जब दूसरे के वक्तव्यों का निराकरण करने लगते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकान्तस्वरूप वस्तु के ज्ञाता उन नयों में 'यह कुछ नय तो सच्चे हैं और यह कुछ झूठे' ऐसा विभाग नहीं करते हैं।

४. नय की हेयोपादेयता

३९२. सम्मद्दंसणणाणं, एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥

स० सा० । १४४

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत, इति केवलं व्यपदेशः।
सर्वनयपक्षरहितो, भणितो यः स समयसारः ॥

आत्मा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा व्यवहार केवल कथन मात्र है। वस्तुतः वह शुद्धात्म-तत्त्व सभी नयपक्षों से अतीत कहा गया है।

३९३. अत्थं जो न समिक्खइ, निक्खेव-नय-प्पमाणओविहिणा।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥

वि० आ० भा० । २२७३ तु० = ध० १ । गा० १० (उद्धृत)

अर्थं यो न समीक्षते, निक्षेपनयप्रमाणतो विधिना।
तस्यायुक्तं युक्तं, युक्तमयुक्तं वा प्रतिभाति ॥

जो मनुष्य पदार्थ के स्वरूप की प्रमाण नय व निक्षेप से संम्यक् प्रकार समीक्षा नहीं करता है, उसे कदाचित् अयुक्त भी युक्त प्रतिभासित होता है और युक्त भी अयुक्त। (इसलिए नयातीत उस तत्त्व का निर्णय करने के लिए नयज्ञान प्रयोजनीय है।)

३९४. तच्चाणेसणकाले, समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये, पच्चक्खो अणुहओ जम्हा ॥

न० च० । २६६

तत्त्वान्वेषणकाले, समयं बुध्यस्व युक्तिमार्गेण।
नो आराधनसमये, तत्प्रत्यक्षोऽनुभवो यस्मात् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु तत्त्वान्वेषण के काल में ही मुक्ति मार्ग से तत्त्व को जानना योग्य है, आराधना के काल में नहीं, क्योंकि उस समय तो वह स्वयं प्रत्यक्ष ही होता है।

५. नय-योजना-विधि

३९५. तित्थयरवयणसंगह, विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ, य सेसा वियप्पा सिं ।।

सन्मति तर्क । १.३ तु० = न० च० । १४८

तीर्थंकरवचनसंग्रह विशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्ययनयश्च, शेषाः विकल्पाः एतेषाम् ।।

तीर्थंकरों के वचन प्रायः दो प्रकार के होते हैं---सामान्यांश प्रतिपादक और विशेषांश प्रतिपादक। इसलिए उनके ग्राहक नय भी दो प्रकार के हैं---द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष सर्व नय इन दोनों के ही भेद-प्रभेद हैं।

३९६. पज्जउ गउणं किज्जा, दव्वं पि य जो हु गिह्णए लोए।
सो दव्वत्थिय भणिओ, विवरीओ पज्जयत्थिओ ।।

न० च० । १९० तु० = वि० आ० भा० । २६४४–२६४६

पर्यायं गौणं कृत्वा, द्रव्यमपि च यो गृह्णाति लोके ।
स द्रव्यार्थिकः भणितः, विपरीतः पर्यायार्थिकः ।।

पर्याय को गौण करके जो द्रव्य को मुख्यतः ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। उससे विपरीत पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् द्रव्य को गौण करके जो पर्याय का मुख्यतः ग्रहण है, वह पर्यायार्थिक नय है।

३९७. दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु, णियमेण पज्जवणयस्स ।।
तह पज्जववत्थु, अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ।।

सन्मति तर्क । १.१० तु० = रा० वा० । १.३३.१

द्रव्यार्थिकवक्तव्यमवस्तु, नियमेन पर्ययनयस्य ।
तथा पर्ययवस्तु अवस्तु, एव द्रव्यार्थिकनयस्य ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यार्थिक का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि में अवस्तु है और इसी प्रकार पर्यायार्थिक का वक्तव्य द्रव्यार्थिक की दृष्टि में अवस्तु[1] है।

३९८. उप्पज्जंति वियंति य, भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं॥

सन्मति तर्क। १.११ तु० = पं० का०। त० प्र०। ५४

उत्पद्यन्ते व्ययन्ति च, भावा नियमेन पर्ययनयस्य।
द्रव्यार्थिकस्य सर्वं, सदानुत्पन्नमविनष्टम्॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी वस्तुएँ सर्वदा के लिए न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट।

---

१. विशेषांश को देखते समय सामान्य और सामान्यांश को देखते समय विशेषांश दिखाई ही नहीं देते। इसलिए उस समय उसके लिए वे अवस्तु हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १७ :

स्याद्वाद अधिकार

(सर्वधर्म-समभाव)

'अनेकान्त' वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद उसे कहने की न्यायपूर्ण पद्धति। 'स्याद्' यह निपात 'कथंचित्' अर्थ का द्योतक है। वाक्य में प्रयुक्त यह शब्द जहाँ अभिप्रेत धर्म को मुख्य करता है, वहाँ साथ ही साथ अन्य धर्म का लोप भी होने नहीं देता है। 'स्याद्वस्तु नित्यैव' इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि किसी एक अपेक्षा से वस्तु नित्य अवश्य है। इसी का अनुक्त अर्थ यह भी है कि किसी अन्य अपेक्षा से वह अनित्य भी अवश्य है।

इस प्रकार यह पद्धति अभिप्रेत व अनभिप्रेत सभी धर्मों को समानभाव से आत्मसात् कर लेती है। और यही है इस न्याय की व्यापकता, विशालता व उदारता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. सर्वधर्म-समभाव

३९९. जं पुण समत्तपज्जाय, वत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ।।
वि० आ० भा० । २२७०

यत् पुनः समस्तपर्याय-वस्तुगमका इति समुदितास्तेन ।
सम्यक्त्वं चक्षुष्मन्तः, सर्वगजावयवग्रहण इव ।।

जिस प्रकार नेत्रवान् पुरुष सांगोपांग हाथी को ही हाथी के रूप में ग्रहण करता है, उसके किसी एक अंग को नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि व्यक्ति समस्त पर्यायों या विशेषों से विशिष्ट समुदित वस्तु को ही तत्त्वरूपेण ग्रहण करता है, उसके किसी एक धर्म या विशेष को नहीं।

४००. उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।
वि० आ० भा० । २२६५ की टीका में उद्धृत

हे नाथ ! जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी दृष्टियाँ अर्थात् धर्म, आपकी स्याद्वादी दृष्टि में आकर मिल जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में सागर नहीं रहता, उसी प्रकार विभिन्न एकान्तवादी पक्षों में आप अर्थात् स्याद्वाद नहीं रहता।

४०१. हेउविसओवणीअं, जय वयणिज्जं वरो नियत्तेइ ।
जइ तं तहा पुरिल्लो, दाइंतो केण जिव्वंतो ।।
सन्मति तर्क। ३.५८

हेतुविषयोपनीतं, यथा वचनीयं परो निवर्तयति ।
यदि तत्तथाऽपरोऽदर्शयिष्यत्, केन अजेष्यत ।।

वादी यदि साध्य को ही हेतु के रूप में प्रयोग करता है तो प्रतिवादी उसे असिद्ध साधन दोष देकर हरा देता है। परन्तु यदि वादी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस साध्य को पहले से स्वीकार कर चुका हो, तब वह किससे पराजित होगा[1]।

२. स्याद्वाद-न्याय

४०२. वाक्येष्वनेकान्तद्योतिगम्यं-प्रतिविशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्-तत्केवलिनामपि ।।

आप्त मी० । १०३

'स्यात्' यह निपात या अव्यय अनेकान्त का द्योतक है और पदार्थ अनेकान्त का द्योत्य है। इस प्रकार अर्थयोगी होने के कारण यह शब्द केवलियों के भी वाक्यों में अनेकान्त के विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है।

४०३. सिद्धयंत्रो यथा लोके, एकोऽनेकार्थदायकः ।
स्याच्छब्दोऽपि तथा ज्ञेय, एकोऽनेकार्थसाधकः ।।

न० च० । २५१ पर उद्धृत

जिस प्रकार लोक में सिद्ध किया गया मंत्र एक व अनेक इच्छित पदार्थों को देने वाला होता है, उसी प्रकार 'स्यात्' यह शब्द एक तथा अनेक अभिप्रेत अर्थों का साधक है।

४०४. अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं,
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकांक्षिणः स्यदिति वै निपातो,
गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः ।।

स्वयंभू स्तोत्र । ४४

जिस प्रकार 'वृक्षाः' यह पद अनेक वृक्षों का वाचक होते हुए भी स्वभाव से ही पृथक्-पृथक् एक वृक्ष का भी द्योतन करता है, इसी

---

१. एकान्तवादी अपने पक्ष के अतिरिक्त दूसरे के पक्ष को किसी भी अपेक्षा स्वीकार नहीं करता है, इसीसे प्रतिवादी उसके पक्ष को दूषित करने में सफल हो जाता है। परन्तु किसी न किसी नय से सभी पक्षों को स्वीकार करने वाला स्याद्वादी कैसे पराजित हो सकता है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार प्रत्येक पद का वाच्य एक तथा अनेक दोनों होते हैं। एक धर्म का कथन करते समय सहवर्ती दूसरे धर्म का लोप होने न पावे इस अभिप्राय से स्याद्वादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात्कार का प्रयोग करता है। यह निपात गौणीभूत धर्म की अपेक्षा न करते हुए भी उसका सर्व लोप होने नहीं देता है।

४०५. वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ।।
सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्वादिप्राप्तिर्विच्छेदे ।
स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः ।।

श्लो० वा० । २.१.६ । श्लो० ५३–५४ तु० = स्याद्वाद मंजरी । २३

अनिष्टार्थ की निवृत्ति के लिए वाक्य में एवकार का प्रयोग अवश्य करना चाहिए, अन्यथा कहीं कहीं कहा हुआ भी वह वाक्य न कहे हुए के समान हो जाता है । परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि उसके प्रयोग से सत्वादि किसी भी धर्म का सर्वथा विच्छेद होता हो तो उसके साथ-साथ स्यात्कार का भी प्रयोग अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यह अनेकान्त का द्योतक है।

४०६. सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः, सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
यथैवकारेऽयोगादि, व्यवच्छेदप्रयोजनः ।।

श्लो० वा० । २.१.६ । ५६

(निःसन्देह सर्वत्र व सर्वदा इस प्रकार बोलना व्यवहार विरुद्ध है, इसीलिए आचार्य कहते हैं कि) जिस प्रकार एवकार का प्रयोग न होने पर भी विज्ञजन केवल प्रकरण पर से अयोग व्यवच्छेद, अन्य-योग व्यवच्छेद और अत्यन्तायोग व्यवच्छेद के आशय को ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार स्यात्कार का प्रयोग न होने पर भी स्याद्वादीजन प्रकरणवशात् उसके आशय को ग्रहण कर लेते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. स्याद्वाद-योजना-विधि

४०७. जीवे णं भन्ते गब्भं वक्कममाणे किं सेयंदिए वक्कमइ अणिंदिए वक्कमइ ? गोयमा ! सिय सेइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ। से केणट्ठेणं भंते ? गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइ पडुच्च सेइंदिए वक्कमइ। से तेणट्ठेणं गोयमा।

व्याख्या प्रज्ञप्ति। १.७ सूत्र ६१

जीवो ननु भगवन् ! गर्भोपक्रममाणः किं सेन्द्रियोपक्रामति अनिन्द्रियोऽपक्रामति (वा) ? गौतम ! स्यात् सेन्द्रियोऽपक्रामति स्यात् अनिन्द्रियोऽपक्रामति। तत् केनार्थेन् भगवन् ? गौतम ! द्रव्येन्द्रियाणि प्रतीत्य अनिन्द्रियोपक्रामति, भावेन्द्रियाणि प्रतीत्य सेन्द्रियोऽपक्रामति। तत्तेनाऽर्थेन गौतम !

प्रश्न :—हे भगवन्, यह जीव जब गर्भ में आता है तब इन्द्रियों सहित आता है, अथवा इन्द्रियों रहित आता है ?

उत्तर :—हे गौतम ! कथंचित् इन्द्रियों सहित आता है, और कथंचित् इन्द्रियों रहित आता है।

प्रश्न :—सो कैसे भगवन् ?

उत्तर :—हे गौतम ! द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों रहित आता है और भावेन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों सहित आता है। •

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: १८ :

आम्नाय अधिकार

देश कालानुसार भाषा व पद्धति के भेद अथवा छोटे- मोटे व्यावहारिक भेद को लेकर युग-युग में सर्वदा अवतीर्ण होने वाले सभी तीर्थंकर एक ही सिद्धान्त का आदेश देते हैं, इसलिए जैनाम्नाय अनादि-निधन है।

जैन आम्नाय में श्वेताम्बर व दिगम्बर का भेद कब व कैसे उत्पन्न हुआ, यह विवादास्पद है। यहाँ केवल इतना बता देना इष्ट है कि दिगम्बर मत नग्नता के बिना मुक्ति नहीं मानता, और इसी कारण स्त्री-मुक्ति उसे स्वीकार नहीं, जब कि श्वेताम्बर मत स्त्री पुरुष आदि सबकी मुक्ति स्वीकार करता है और किसी भी लिंग से, यहाँ तक कि गृहस्थ लिंग से भी।

वस्त्र, पात्र आदि उपकरण धारण करने मात्र से साधु परिग्रही नहीं हो जाता, क्योंकि वह उन्हें संयम के निर्वाहार्थ ग्रहण करता है, मूर्च्छा या आसक्ति के वश होकर नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. जैनधर्म की शाश्वतता

४०८. जंबूद्दीवे भरहेरावएसु वासेसु, एगसमए एगजुगे दो।
अरहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जिंति वा उप्पज्जिस्संति वा ॥

स्थानांग। २.३०.२० (८९) तु० = ज० प०। १९९

जम्बूद्वीपे भरतैरावतेषु वर्षेषु, एकसमये एकयुगे द्वौ।
अर्हद्वंशौ उत्पन्नौ वा, उत्पद्येते वा उत्पत्स्यतः वा ॥

इस जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत इन दो वर्षों या क्षेत्रों में एक साथ अर्हंत या तीर्थंकर वंशों की उत्पत्ति अतीत में हुई है, वर्तमान में हो रही है और भविष्य में भी इसी प्रकार होती रहेगी। (वर्तमान युग के तीर्थंकरों में ऋषभदेव प्रथम हैं, अरिष्टनेमि २२वें, पार्श्वनाथ २३ वें और भगवान् महावीर अन्तिम अर्थात् २४ वें हैं।)

४०९. तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति, भास्करो यथा लोकम्।
तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्त्तते, तीर्थंकरः एवम् ॥

नन्दिसूत्र। २ की मलयगिरि टीका में उद्धृत। पृ० २१

जिस प्रकार सूर्य स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार ये सभी तीर्थंकर स्वभाव से ही तीर्थ-वर्त्तना के लिए प्रवृत्त होते हैं।

४१०. अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वया।
एयाइँ गुणाइँ आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

सू० कृ०। १.२.३. २०

अभवन् पुरापि भिक्षवः, आगामिनश्च भविष्यन्ति सुव्रताः।
एतान् गुणानाहुस्ते, काश्यपस्य धर्मानुचारिणः ॥

हे मुनियो! भूतकाल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं और भविष्यत् में होंग, वे सभी व्रती, संयमी तथा महापुरुष होते हैं। इनका उपदेश नया नहीं होता, बल्कि काश्यप अर्थात् ऋषभदेव के धर्म का ही अनुसरण करने वाला होता है। (तीर्थंकर किसी नये धर्म के प्रवर्तक नहीं होते, बल्कि पूर्ववर्त्ती धर्म के अनुवर्तक होते हैं।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४११. सव्वण्हुमुहविणिग्गय, पुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं ।
अक्खयमणाहिणिहणं, सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं ।।

ज० प० । १३.८३

सर्वज्ञमुखविनिर्गतः, पूर्वापरदोषरहितपरिशुद्धम् ।
अक्षयमनादिनिधनं, श्रुतज्ञानप्रमाणं निर्दिष्टम् ।।

(यही कारण है कि) सर्वज्ञ भगवान् तीर्थङ्कर के मुख से निकला हुआ, पूर्वापर विरोध-रहित तथा विशुद्ध यह द्वादशांग श्रुत अर्थात् जैनागम अक्षय तथा अनादि-निधन कहा गया है।

२. देश-कालानुसार जैनधर्म में परिवर्तन

४१२. एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ?
धम्मे दुविहे मेहावि, कहं विप्पच्चओ न ते ?

उत्तरा । २३.२४

एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किन्नु कारणम् ।
धर्मे द्विविधे मेधाविन् ! कथं विप्रत्ययो न ते ।।

(भगवान् महावीर ने पंचव्रतों का उपदेश किया और उनके पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्व ने चार व्रतों का। इस विषय में केशी ऋषि गौतम गणधर से शंका करते हैं, कि) हे मेधाविन् ! एक ही कार्य में प्रवृत्त होने वाले दो तीर्थंकरों के धर्मों में यह विशेष भेद होने का कारण क्या है ? तथा धर्म के दो भेद हो जाने पर भी आपको संशय क्यों नहीं होता है ?

४१३. पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ।।

उत्तरा० । २३.२७ तु० = मू० आ० । ५३५ (७.४३)

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणां दुरनुपालकः ।
कल्प्यो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः ।।

यहाँ गौतम उत्तर देते हैं कि प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में युग का आदि होने के कारण व्यक्तियों की प्रकृति सरल परन्तु बुद्धि जड़ होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, इसलिए उन्हें धर्म समझाना कठिन पड़ता है। चरम तीर्थ में प्रकृति वक्र हो जाने के कारण धर्म को समझ कर भी उसका पालन कठिन होता है। मध्यवर्ती तीर्थों में समझना व पालना दोनों सरल होते हैं।

४१४. चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ बद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी॥
उत्तरा०। २३.२३

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्द्धमानेन, पार्श्वेन च महामुनिना॥

यही कारण है कि भगवान् पार्श्व के आम्नाय में जो चातुर्याम मार्ग प्रचलित था, उसी को भगवान् महावीर ने पंचशिक्षा रूप कर दिया।

४१५. बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो महावीरो॥
मू० आ०। ५३३ (७.४२)

द्वाविंशतितीर्थंकराः, सामायिकसंयमं उपदिशंति।
छेदोपस्थापनं पुनः, भगवान् ऋषभश्च वीरश्च॥

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया है। परन्तु प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर ऋषभ व महावीर ने छेदोपस्थापना संयम पर जोर दिया है।

३. दिगम्बर-सूत्र

४१६. ण वि सिज्झइ वत्थधरो,
जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मगया सव्वे॥
सू० पा०। २३

नापि सिध्यति वस्त्रधरो, जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः।
नग्नो विमोक्षमार्गः, शेषा उन्मार्गकाः सर्वे॥

भले ही तीर्थंकर क्यों न हो, वस्त्रधारी मुक्त नहीं हो सकता। एकमात्र नग्न या अचेल लिंग ही मोक्षमार्ग है, अन्य सर्व लिंग उन्मार्ग हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४१७. धम्मम्मि निप्पवासो, दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
निप्फलनिग्गुणयारो, नडसवणो नग्गरूवेण ।।

भा० पा० । ७१

धर्मे निप्रवासो, दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः ।
निष्फलनिर्गुणकारो, नटश्रमणो नग्नरूपेण ।।

(इसका यह अर्थ नहीं कि नग्न हो जाना मात्र मोक्षमार्ग है, क्योंकि) जिसका चित्त धर्म में नहीं वसता, जिसमें दोषों का आवास है, तथा जो ईख के फूल के समान निष्फल व निर्गुण है, वह व्यक्ति तो नग्नवेश में नट-श्रमण मात्र है ।

४१८. णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी, ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं, वियप्पियं लिंगमित्थी णं ।।

प्र० सा० । २२५ की प्रक्षेपक गा० ७

निश्चयतः स्त्रीणां सिद्धिर्न, तेनैव जन्मना दृष्टा ।
तस्मात् तत्प्रतिरूपं, विकल्पिकं लिंगं स्त्रीणां ।।

निश्चय से स्त्रियों को इसी जन्म से सिद्धि होती नहीं देखी गयी है, क्योंकि सावरण होने के कारण, उन्हें निर्ग्रन्थ का अचेल लिंग सम्भव नहीं ।

४. श्वेताम्बर सूत्र

४१९. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ बद्धमाणेणं, पासेण य महाजसा ।।

उत्तरा० । २३.२९

अचेलस्य यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः ।
देशितो वर्द्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ।।

हे गौतम ! यद्यपि भगवान् महावीर ने तो अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया है, परन्तु उनके पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्व का मार्ग सचेल भी है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४२०. एवमेव महापउम्मो वि, अरहा समणाणं निग्गंथाणं ।
पंचमहव्वयाइं जाव, अचेलगं धम्मं पण्णविहिउ ॥
स्थानांग । ९.५० (६९३)

एवमेव महापद्मोऽपि, अर्हन् श्रमणाणां निर्ग्रन्थानाम् ।
पंचमहाव्रतानि यावदचेलकं धर्मं प्रज्ञापयिष्यति ॥

इसी प्रकार आगामी तीर्थंकर भगवान् महापद्म भी पंच महाव्रतों से युक्त अचेलक धर्म का ही प्ररूपण करेंगे।

४२१. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगप्पओयणं ॥
उत्तरा० । २३.३२

प्रतीत्यार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिंगप्रयोजनम् ॥

इतना होने पर भी लोक-प्रतीति के अर्थ, हेमन्त व वर्षा आदि ऋतुओं में सुविधापूर्वक संयम का निर्वाह करने के लिए, तथा सम्यक्त्व व ज्ञानादि को ग्रहण व धारण करने के लिए लोक में वाह्य लिंग का भी अपना स्थान अवश्य है।

४२२. इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य णवुंसगा ।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥
उत्तरा० । ३६.४९

स्त्रीपुरुषसिद्धाश्च, तथैव च नपुंसकाः ।
स्वलिंगाः अन्यलिंगाश्च, गृहिलिंगास्तथैव च ॥

(सभी लिंगों से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, क्योंकि सिद्ध कई प्रकार के कहे गये हैं) यथा--स्त्रीलिंग से मुक्त होने वाले सिद्ध, पुरुषलिंग से मुक्त होने वाले सिद्ध, नपुंसक-लिंग से मुक्त होनेवाले सिद्ध, जिन-लिंग से मुक्त होनेवाले सिद्ध, आजीवक आदि अन्य लिंगों से मुक्त होने वाले सिद्ध, और गृहस्थलिंग से मुक्त होने वाले सिद्ध।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४२३. निग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा ॥

नन्दि सूत्र । ४६ की मलयगिरि टीका में उद्धृत

निर्ग्रन्थ शाक्य तापस, गैरुक आजीव पंचधा श्रमणा ।

श्रमण लिंग पाँच प्रकार का होता है--निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक और आजीवक ।

४२४. जिणकप्पा वि दुविहा, पाणिपाया पडिग्गहधरा य ।
पाउरजमया उरणा, एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥

पवयणसारोद्धार । ६०.२

जिनकल्पाऽपि द्विविधाः, पाणिपात्राः परिग्रहधराश्च ।
सप्रावरणा अप्रावरणा, एकैकास्ते भवेयुः द्विविधाः ॥

जिनकल्पी साधु भी दो प्रकार के होते हैं और उनमें से भी प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं। अर्थात् चार प्रकार के होते हैं--सवस्त्र परन्तु पाणिपात्राहारी, अवस्त्र पाणिपात्राहारी, सवस्त्र पात्रधारी और अवस्त्र पात्रधारी ।

४२५. य एतान् वर्जयेद्दोषान्, धर्मोपकरणादृते ।
तस्य त्वग्रहणं युक्तं, यः स्याज्जिन इव प्रभुः ॥

उत्तरा० । ३.१७८ की शान्त्याचार्य कृत टीका में उद्धृत

जो साधु आचार विषयक दोषों को जिनेन्द्र भगवान् की भाँति विना उपकरणों के ही टालने को समर्थ हैं, उनके लिए इनका न ग्रहण करना ही युक्त है (परन्तु जो ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं वे अपनी सामर्थ्य व शक्ति के अनुसार हीनाधिक वस्त्र पात्र आदि उपकरण ग्रहण करते हैं।)

४२६. जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

दशवै० । ६.२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदपि वस्त्रं च पात्रं च, कम्बलं पादप्रोंछनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिहरन्ति च ।।

साधुजन ये जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पादप्रोंछन आदि उपकरण धारण करते हैं, वे केवल संयम व लज्जा की रक्षा करने के लिए, अनासक्ति भाव से ही इनका उपयोग करते हैं, और किसी प्रयोजन से नहीं । समय आने पर अर्थात् हेमन्त आदि के बीत जाने पर इनका यथाशक्ति पूर्ण या एकदेश त्याग भी कर देते हैं[१] ।

४२७. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इय वुत्तं महेसिणा ।।

दशवै० । ६.२१

नाऽसौ परिग्रहः उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिना ।
मूर्च्छा परिग्रहः उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ।।

परन्तु इतने मात्र से साधु परिग्रहवान् नहीं हो जाते हैं, क्योंकि ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने पदार्थों की मूर्च्छा या आसक्ति भाव को परिग्रह कहा है[२], पदार्थों या उपकरणों को नहीं । यही बात महर्षि सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्यों से कही है ।

४२८. सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ।।

दशवै० । ६.२२

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः, संरक्षणपरिग्रहे ।
अप्यात्मनोऽपि देहे, नाचरन्ति ममत्वम् ।।

समता-भोगी जिन वीतरागियों को अपनी देह के प्रति भी कोई ममत्व नहीं रह गया है, वे इन वस्त्र पात्र आदि के प्रति ममत्व रखते होंगे, यह आशंका कैसे की जा सकती है ?

---

१. आचारांग । ८.४ सूत्र २ २. दे० गा० १७६-१७७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्टः १

गाथानुक्रमणिका

(अंक गाथाओं के हैं)

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
अगणिअ जो मुक्ख	१६१	अवरोप्परसावेक्खं	३८४
अचेलगो य जो धम्मो	४१९	अवि सुइयं वा सुक्कं वा	२५३
अज्झवसाण विसुद्धी	२०४	असइं उच्चागोए	२७२
अट्ठेण तं ण वंधइ	१८४	असुहादो विणिवित्ति	१३९
अण्णोण्णं पविसंता	३४७	असुहेण णिरय तिरियं	१११
अतीन्द्रियं परं ब्रह्म	९३	अहं ब्रह्मस्वरूपिणी	३७५
अतः शुद्धनयायत्तं	३१२	अहमिक्को खलु सुद्धो	२८४
अत्थं जो ण समिक्खइ	३९३	आगासकालपुग्गल	३१३
अधीत्य सकलं श्रुतं	५६	आदा णाणपमाणं	२९२
अध्रुवयसरणमेगत्त	१००	आदिणिहणेण हीणो	२८६
अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि	८८	आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी	२५८
अनन्यशरणीभूय	२२६	आलोयणादिकिरिया	३६
अनेकमेकं च पदस्य	४०४	आलोयणागरिहाईयं	२१४
अनेकान्तोप्यनेकान्तः	३८०	आसवदारेहिं सया	३१८
अन्तस्तत्त्व विशुद्धात्मा	२४३	आह गुरु पूयाए	२५७
अन्नं इमं सरीरं	१०७	आहच्च सवणं लद्धुं	११३
अप्पा कत्ता विकत्ता य	१३	आहारपोसहो खलु	१८६
अप्पा नई वेयरणी	१२	इंदिअकसायअव्वय	३१७
अब्भंतरसोधीए	७८	इक्कं पंडियमरणं	२३३
अब्भुट्ठाणं अंजलि	२१६	इत्थी पुरिससिद्धा य	४२२
अभविसु पुरा वि	४१०	इमं च मे अत्थि	१७
अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा	३३	इय जीवमजीवे य	२६
अम्भोवद्बुदसंनिभा	१०१	इर्याभासेसणादाणे	१९१
अरसमरूवमगंधं	२९०	इह सामण्णं साधु	२४१
अर्थोऽयमपरोऽनर्थं	७४	इहलोगणिरवेक्खो	२०२
अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात्	२२५	उक्कोस्सचरित्तोऽवि	१५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
उड्ढमहो तिरियं पि	१८२	एवमेव महापउम्मो वि	४२०
उत्तमखममद्दवज्जव	२४२ (ख)	एवंमेव वयं मूढा	१०ख
उत्तम गुणाण धामं	३१४	ओरालियो य देहो	२९८
उदधाविव सर्वसिन्धवः	४००	कत्ता भोइ अमुत्तो	२८९
उदयं जह मच्छाणं	३०३	कम्ममसुहं कुसीलं	३२४
उद्देसियं कीयगडं	१९५	कर्म नैष्कर्म्य वैषम्य	१५०
उद्धाण तेण सावय	२२०	कर्मयोगं समभ्यस्य	३४
उपास्यात्मानमेवात्मा	३४४	कर्माण्यिःचरतो ज्ञातु	१४९
उप्पज्जंति वियंति य	३९८	कसाए पयणू ए किच्चा	२३८
उप्पज्जंतो कज्जं	३४८	कहं चरे कहं चिट्ठे	१५१
उवभोगपरिभोगे वीयं	१८३	कामाणुगिद्धिप्पभवं	५७
उवभोगमिंदियेहिं	१३४	कायकिरियाणियत्ती	१९९
उवसमदयादमाउ	१२२	कालो सहाव णियई	३८७
एए य संगे समइक्कमित्ता	१७५	किंचिवि दिट्ठिमुपावत्त	२२८
एएहिं पंचहिं असंवरेहिं	३२९	किं माहणा ! जोइसमा	२७५
एकस्य विषयो यः	१२९	कुलरूवजादिवुद्धिसु	२७०
एको भावः सर्वभाव	८३	कृतानि कर्माण्यतिदा	२१५
एक्कु करे मं विण्णि	५९	कोहं खमाइ माणं	१२४
एगंतमणावाए	२११	कोहस्स व माणस्स व	१२३
एगंते अच्चित्ते दूरे	१९७	कोहादिसगब्भावक्खय	२१३
एगकज्जपवन्नाणं	४१२	कोहेण जो ण तप्पदि	२६८
एगदवियम्मि जे	३६४	खंधं सयलसमत्थं	२९६
एगुत्तरमेगादि अणुस्स	३४९	खंधा य खंधदेसा य	२९५
एगो मे सासओ अप्पा	१०५	खामेमि सव्वजीवे	२६९
एयं सकम्मविरियं	१४४	गदिमधिगदस्स देहो	३५७
एयाओ पंचसमिईओ	१९२	गामे वा णयरे वा	१७१
एया वि सा समत्था	२५६	गुणपरिणामो सड्ढा	२२१
एवं क्रमशोऽभ्यासा	२२९	गुणाणामासओ दव्वं	३६२
एवं च जीवदव्वस्स	३६८	गुणेहिं साहू अगुणेहिं	६७
एवं तु संजयस्सावि	३३५	ज्ञानं केवलसंज्ञं	३४५
एवं सेहे वि अपुट्ठे	१३६	ज्ञानी तु शान्तविक्षेपो	२५९
एवं हि जीवराया	२४	घोडगलिंडसमाणस्स	६६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
चउरंगं दुल्लहं णच्चा	४२	जयं चरे जयं चिट्ठे	१५२
चक्किकुरुफणिसुरिंद	३४१	जले जीवाः स्थले	१६४
चक्खुसा पडिलेहित्ता	१९६	जस्स ण विज्जदि	३२३
चतुवर्गेऽग्रणी मोक्षो	२०	जह कंचणस्स कंचण	३६७
चत्तारि कसाए तिन्नि	७२	जह कंटएण विद्धो	१६०
चत्तारि मंगलं	२	जह जह वहुस्सुओ	९२
चत्तारि लोगुत्तमा	२	जह णवि सक्कम	२८
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि	२	जह णाम को वि पुरिसो	२३
चरणकरणप्पहाणा	१४३	जह ते न पियं दुक्खं	२६३
चरे पयाइं परिसंकमाणो	२३४	जह निंवदुमुप्पण्णो	९
चाउज्जामो य जो	४१४	जह पउमरायरयणं	२९३
चारित्तं खलु धम्मो	११७	जह वालो जंपंतो	२७४
चिंतंतो ससरूवं	२२७	जह रायकुलपसूओ	२४०
चिच्चा दुपयं च चउ	३५४	जह वि णिरुद्धं	३५
चित्तमंतमचित्तं वा	१७०	जह सलिलेण ण	१४६
चेयणरहियममुत्तं	३०१	जह हवदि धम्मदव्वं	३०४
छट्ठट्ठमदसमदुवा	२०९	जहा कुम्मे सअंगाइं	१२५
जं अन्नाणी कम्मं	२०६	जहा दड्ढाणं वीयाणं	३४०
जं किंचिवि चिंतंतो	२३०	जहा दुमस्स पुप्फेसु	२५२
जं पि वत्थं व पायं	४२६	जहा महातलागस्स	३३४
जं पुण सम्मत्तपज्जाय	३९९	जहा लाहो तहा लोहो	२७७
जंवूद्दीवे भरहेरावएसु	४०८	जादो अलोगलोगो	३०६
जं मया दिस्सदे रूवं	२०१	जायदि जीवस्सेवं	३५८
जं मोणं तं सम्मं	४४	जा रायादिणियत्ती	१९८
जं सक्कइ तं कीरइ	४८	जावइयं किंचि दुहं	१०८
जउकुंभे जोइउवगूढे	१७४	जावद्धम्मं दव्वं	३३८
जत्थ य एगो सिद्धो	३३९	जावन्तो वयणपहा	३८१
जत्थेव पासे कइ	६९	जिणकप्पा वि दुविहा	४२४
जदि पढदि वहुसुदाणि	१४२	जीवपरिणामहेदुं	३५३
जमणेगधम्मणो	३८९	जीवस्स णत्थि रागो	२९९
जमिणं जगई पुढो	११	जीवहँ कम्मु अणाइ	३५२
जम्मजरामरणभए	१०३	जीवाजीवा य बंधा	३१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
जीवाजीवौ हि धर्मिणौ	३११	ण य गच्छदि	३०५
जीवादीपयत्थाणं	११०	ण वि कारणं तणमओ	२३७
जीवादिबहित्तच्चं	३१५	ण वि तं कुणइ अमित्तो	११८
जीवादीसद्दहणं	२२	ण वि सिज्झइ वत्थधरो	४१६
जीवा पुग्गलकाया	२८८	ण हि आगमेण	२५
जीवे णं भन्ते गब्भं	४०७	णाणाधम्मजुदं पि य	३७९
जीवोऽप्रविश्य	३२	णासीले ण विसीले	९५
जीवो वंभा जीवम्मि	१७३	णिच्छयदो इत्थीणं	४१८
जे इंदियाणं विसया	१२८	णिच्छय सज्झसरूपं	३१
जे केइ वि उवएसा	२६०	णिद्धा वा लुक्खा वा	३५०
जेण रागा विरज्जेज्ज	९६	णियवयणिज्ज	३९१
जे पज्जएसु णिरदा	८४	णिरवेक्खे एयन्ते	३८५
जे य कंते पिय भोए	२८२	णिव्वेगतियं भावइ	२८१
जेसिं विसयेसु रदी	८	णिसल्लस्सेव पुणो	१५९
जो अवमाणकरणं	२७१	णो च्छायए णो वि	६१
जो एगं जाणइ	८२	तं एयत्तविभत्तं	४
जो खलु संसारत्थो	३५६	तं परियाणहिं दव्वु	३६१
जो चरदि णादि पेच्छदि	२१	तच्चं तह परमट्ठं	३०९
जो चिंतेइ ण वंकं	२७३	तच्चाणेसणकाले	३९४
जो जाए परिणिमित्ता	२३९	तत्स्वाभाव्यादेव	४०९
जो ण करेदि जुगुप्पं	५८	तध रोसेण सयं	२६७
जो ण य कुव्वदि गव्वं	६२	तनुकरणभुवनादौ	३६०
जो धम्मिएसु भत्तो	७०	तम्हा अहिगयसत्तेण	९१
जो पस्सदि अप्पाणं	८१	तम्हा वत्थूणं चिय	३७०
जो मण्णादि हिंसामि	१६५	तवसा उ णिज्जरा इह	३३२
जो मुणिभुत्तवसेसं	२६५	तवसा चेव ण मोक्खो	३३३
जो समो सव्वभूएसु	१८७	तवो जोई जीवो	२६६
जो सुत्तो ववहारे	१५७	तस्माद्वीर्यसमुद्रेका	२०७
जो सम्मं भूयाइं	३१९	तस्स ण कप्पदि	२३५
ठाणा वीरासणाईंया	२१२	तहागहं भिक्खु	१३८
ण बलाउसाउअट्ठं	२५१	ता भंजिज्जउ लच्छी	२६४
णमो अरहंताणं	१	तिण्णो हु सि	६८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
तित्थयरवयणसंगह	३९५	न ह्यप्रमत्तसाधूनां	१४८
तिविहा य होइ कंखा	५५	नाणमयवायसहिओ	२०५
तिसिदं वा भुक्खिदं	२६२	नाणेण य झाणेण य	३२२
तेतें कम्मत्तगदा	३५५	निग्गंथ सक्क तावस	४२३
तेसिं वि तवो ण	६५	निस्संकिय निक्कंखिय	५०
त्यक्तं येन फलं	१४७	नो खलु अहं तहा	२४८
थोवम्मि सिक्खिदे	१४०	नो सक्कियमिच्छई न	६४
दंसणणाणे विणओ	२१८	पंच उ अणुव्वयाइं	१८०
दंसणभट्ठो भट्ठो	४५	पंचसमिओ तिगुत्तो	३२१
दर्शनविशुद्धिविनय	९८	पंचेव अणुव्वयाइं	१७९
दवग्गिणा जहा	१०(क)	पउमणिपत्तं व जहा	१५३
दव्वं पज्जवविउयं	३६५	पच्चयत्थं च लोगस्स	४२१
दव्विट्ठियवत्तव्वं	३९७	पज्जय गउणं किज्जा	३९६
दाणं पूजा सीलं	२४५	पत्थं हिदयाणिट्ठं पि	१६९
दिसिविदिसिमाण	१८१	पमायं कम्ममाहंसु	१४५
दुपदेसादी खंधा	३५१	परमाणुमित्तयं वि	१२०
दुविहं संजमचरणं	२४७	परसमएगनयमयं	३९०
देहादेवलि जो वसइ	३४३	पुरिमाणं दुव्विसोज्झो	४१३
धम्मकहाकहणेण	७५	पुरिसम्मि पुरिससद्दो	३६९
धम्मम्मि निप्पवासो	४१७	पूयादिसु णिरवेक्खो	२२२
धम्माधम्मा कालो	३०२	पेसुण्णहासकक्कस्स	१९४
धम्मेण विणा जिण	११५	प्रियं तथ्यं वचस्तथ्यं	१६८
धम्मे य धम्मफलम्हि	१३०	फासुयमग्गेण दिवा	१९३
धम्मो अहम्मो	२८७	वारसविहम्मि वि	२२३
धम्मो वत्थुसहावो	२४२(क)	वावीसं तित्थयरा	४१५
धीरेण वि मरियव्वं	२३२	वौद्धानामृजुसूत्रतो	३८८
न कम्मुणा कम्म	२७८	भावस्स सिद्ध्यसिद्धि	३९
न कामभोगा समयं	१७६	भावस्स णत्थि णासो	३४६
न पश्यामः क्वचित्	३७२	भावे विरत्तो मणुओ	१३२
न समेन्ति न च समेया	३८२	भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो	८०
न सामान्यात्मनोदेति	३६६	भिन्नापेक्षा यथैकत्र	३७८
न सो परिग्गहो वुत्तो	४२७	भूतं भ्रान्तमभूतमेव	९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
भूयत्थेणाभिगदो	४३	रुंधिय छिद्दसहस्से	३२०
भेदसंघाताभ्यां च	२९४	लाउ य एरंडफले	३३७
भोगामिस दोस	१८	लाहालाहे सुहे दुक्खे	१२७
भोच्चा माणुस्सए	४१	लोइय जणसंगादो	२१०
यं पुणु पुण्णइं	३२७	लोयायास पदेसे	३०८
मंसट्ठियसंघाए	१०९	वजिज्जा तेनाहड	१७२
मणसा वाया कायेण	१९	वदसमिदिकसायाणं	१६२
मदमाणमायलोह	७६	वरं वयतवेहिं सग्गो	३२८
मनः शुद्धिमबिभ्राणा	७७	वर जियपा वइँ	३२६
मरदु वा जियदु	१६७	ववदेसा संठाणा संखा	३६३
मा चिट्ठह मा जंपह	२३१	ववहारेणुवदिस्सइ	२७
माणुस्सं विग्गहं	११२	ववहारोऽभूयत्थो	२९
मायावुइममेयं तु	६०	वाक्येऽवधारणं तावद्	४०५
मिच्छंतं वेदंतो	१४	वाक्येष्वनेकान्त	४०२
मित्तसुयबंधवाइसु	७३	वासीचन्दणसमाण	२५४
मूर्छाछिन्नधियां सर्व	१७७	विगिंच कम्मुणो	४०
मूर्त्तिमत्सु पदार्थेषु	३००	विणओ मोक्खद्दारं	२१७
य एतान् वर्जयेद्दोषान्	४२५	वित्तेण ताणं ण लभे	१५५
यः परमात्मा स एवाऽहं	३४२	विधिः सृष्टा विधाता	३५९
यत्रानर्पितमादधाति	३७७	विना समत्वं प्रसरन्	१८९
यत्रैवाहितधीः पुंसः	४९	विरलो अज्जदि पुण्णं	६३
यत्सूक्ष्मं च महच्च	३७४	विषमेऽपि समेक्षी यः	९७
यथा-यथा समायाति	१२६	विषयान् साधकः पूर्वं	२८०
यथा स्वप्नोऽवबुद्धो	८५	विसयकसायविणिग्गह	२०३
यथैकशः कारकमर्थ	३७६	वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे	३७१
यदेव तत्तदेवातत्	३७३	व्याप्नोति महतीं भूमिं	११९
यद्यत्स्वानिष्टं	२४६	संगं परिजाणामि	१०४
यस्य सस्पन्दमाभाति	१३१	संजोगमूला जीवेणं	१०६
रत्तो बंधदि कम्मं	३३१	संजोगसिद्धीइ फलं	३८
रागद्दोसपमत्तो	३१६	संलेहणा य दुविहा	२३६
रागद्वेषाविह हि	१२१	संवेओ णिव्वेओ	५१
रागादीणमणुप्पा	१६६	संसयविमोहविब्भम	७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा का आदि शब्द	गाथांक	गाथा का आदि शब्द	गाथांक
सत्तभयट्ठाणा	५३	सीह-गय-वसह	२५०
सत्त्वेषु मैत्रीं	७१	सुइं च लद्धुं सद्धं च	११४
सद्दंधयार-उज्जोय	२९७	सुई जहा ससुत्ता	८६
सद्दहदि य पत्तेदि	१५	सुचिए समे विचित्ते	२२४
सद्धं णगरं किच्चा	२४४	सुत्तं अत्थनिमेणं	९०
सुबहुं पि सुयमहीयं	१४१	सुत्तेसु यावी पडि	१५८
सब्भावसभावाणं	३०७	सुद्धो सुद्धादेसो	३०
समणेण सावएण य	९९	सुदपरिचिदाणु	३
समणोत्ति संजदोत्ति	२४९	सुलभं वागनुच्चारं	२००
समदा तह मज्झत्थं	११६	सुहं वसामो जीवामो	२८५
समसंतोष-जलेणं	२७६	सुहसायगस्स	१३५
सम्मत्तणाणचरणे	२५५	सेज्जागासणिसेज्जा	२१९
सम्मत्तरयणभट्ठा	८९	सेणावतिम्मि निहते	३३६
सम्यत्तादो णाणं	४६	सेयासेयविदण्हू	४७
सम्मदिट्ठी जीवा	५२	सेवंतो वि ण सेवइ	१३३
सम्मद्दंसण णाणं	३९२	सोऽप्रयुक्तोऽपि	४०६
सव्वओ पमत्तस्स	१५६	सोच्चा जाणइ	८७
सव्वण्हुमुहविणिग्गय	४११	सो णत्थि इहोगासो	७
सव्वत्थुवहिणा वुद्धा	४२८	सो नाम अणसण	२०८
सव्वे पाणा पियाउया	५	सोवण्णियं पि	३२५
सव्वे भावे जम्हा	२७९	सो वि परीसह	१३७
सव्वे समयंति	३८३	सौख्यं वैषयिकं	१०२
सव्वे सरा नियट्टंति	२९१	स्नेहाभ्यक्ततनोरंगं	३३०
सापेक्षा नयाः सिद्धा	३८६	स्वभावलाभात्	५४
सामाइयं उ कए	१९०	हत्थागया इमे	१६
सामाइयं च पढमं	१८५	हयं नाणं कियाहीणं	३७
सामिसं कुललं	१७८	हा ! जह मोहिय	६
सावज्जजोगपरि	१८८	हिंसाविरदिसच्चं	१६३
सिद्धमंत्रो यथा	४०३	हेउविसओवणीअं	४०१
सिया हु से पावय	२६१	होऊण य णिस्संगो	२८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट : २

पारिभाषिक शब्द-कोश

अंक गाथाओं के हैं

अचित्त–निर्जीव पदार्थ (१७०)

अजीव–जीव के अतिरिक्त पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचेतन होने से अजीव कहलाते हैं। (३१३)

अणुव्रत–अहिंसा, सत्य आदि पाँच मूल व्रत ही एकदेश रूप पालन होने पर अणुव्रत कहलाते हैं। (१८०)

अधर्म द्रव्य–लोकाकाश प्रमाण एक अमूर्तिक द्रव्य, जो जीव व पुद्गलों की स्थिति में उदासीन हेतु हैं। (३०४)

अधोलोक–लोकाकाश का अधःवर्ती वह भाग जिसमें नारकीयों का वास है। (११०)

अनर्थदण्ड–निष्प्रयोजन किया गया कोई भी कार्य (१८४)

अनशन–खान पान आदि चारों प्रकार के आहार का पूर्ण त्याग (२०८)

अनागार धर्म–निर्ग्रन्थ अर्थात् साधु का धर्म (२४७)

अनित्यत्व भावना–वारह अनुप्रेक्षाओं में से प्रथम, देहादि की अनित्यता का चिंतन (१०१)

अनेकान्त–नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनेक विरोधी धर्मों से गुम्फित वस्तु का एकरसात्मक जात्यन्तर भाव। (३७४-३७७)

अन्यत्व भावना–अपने को देहादि से भिन्न देखना। (१०७)

अपरम भाव–योगी जव तक पूर्ण-काम नहीं हो जाता (३०)

अपेक्षा–एक पदार्थ या धर्म की अपेक्षा दूसरे का परत्वापरत्व।

अप्रमाद–पारमार्थिक जागरूकता (१४५); दैनिक क्रियाओं के प्रति सावधानी। (१५१)

अमूढ़दृष्टित्व–स्व-धर्म-निष्ठा। (६०)

अलोक–षट् द्रव्यमयी लोक-भाग को छोड़कर उसके वाहर का अनंत आकाश। (३०२)

अशरणत्व–आत्मा व धर्म के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी शरणभूत नहीं है। (१०४)

अशुचित्व भावना–शरीर के अशुचि-स्वभाव को देखकर इससे विरक्त होना। (१०९)

अशुभोपयोग–हिंसा आदि रूप मानसिक प्रवृत्ति। (१११)

अस्तिकाय–त्रिकालावस्थायी होने से छहों द्रव्य अस्तित्व स्वभावी हैं, परन्तु अणु परिमाण होने से काल द्रव्य कायवान नहीं है। शेष पाँच विभु व मध्यम परिमाण-युक्त होने से कायवान भी हैं। (२८८)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तेय–विना दी वस्तु में ग्रहण का भाव न होना। (१७१)

अहिंसा–किसी को न मारना व्यवहार अहिंसा है और राग-द्वेष का उत्पन्न न होना निश्चय अहिंसा है। (१६६)

आकाश–अचेतन अमूर्त्तिक व विभु द्रव्य। (३०१)

आकिंचन्य–निर्मम भाव। (२८४)

आचार्य–साधु-संघ के नायक। (१)

आत्मा–दे० जीव

आदाननिक्षेपण समिति–पदार्थों को देख भालकर उठाना धरना। (१९६)

आर्जव–मायाविहीन शिशुवत् सरल भाव। (२७३-२७४)

आवश्यक कर्म–साधु के करने योग्य छह आवश्यक कर्म—वन्दना, स्तुति, समता, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग व स्वाध्याय। (१४८)

आस्तिक्य–तत्त्व व अतत्त्व में विवेक भाव। (७४)

आस्रव–क्रियमाण कर्म-संस्कारों का आगमन। (३१६-१८)

आहारक शरीर–ऋद्धि-प्राप्त तपस्वियों का एक विशेष अदृष्ट शरीर। (२९८)

ईर्या समिति–जीव-जन्तुओं को वचाते हुए देखभाल कर चलना। (१९३)

उपगूहन–अपने गुणों का व अन्य के दोषों का गोपन। (७२)

उपबृंहणत्व–दम्भाचार को छोड़कर सम्यक् प्रकार निज गुणों में वृद्धि करना। (६४-६८)

उपशम–निर्मदता। (६२)

उपाध्याय–अध्ययन-अध्यापन करने में कुशल साधु। (१)

ऊर्ध्व लोक–लोककाश का ऊर्ध्ववर्ती वह भाग जहाँ कि देवों का निवास है। (११०)

ऊनोदरी–ग्रास ग्रास करके भोजन को घटाना। (२०७)

ऋजुसूत्र–क्षणवर्ती कार्य को ही पूर्ण तत्त्व देखनेवाली दृष्टि। (३८९)

एकत्व–सब पर्यायों में अनुगत मूल तत्त्व की एकता (४); जगत् में जीव का तात्त्विक एकाकीपन। (१०५)

एकान्त–अनेक धर्मात्मक वस्तु में से किसी एक धर्म को ही ग्रहण करनेवाली दृष्टि या पक्षपात। (३८२)

ऐरावत क्षेत्र–जम्बूद्वीप का उत्तरवर्ती क्षेत्र। (४०९)

एषणा समिति–यथालब्ध आहार में सन्तोष रखना। (१९५)

औदारिक शरीर–दृष्ट स्थूल शरीर। (२९८)

करोति क्रिया–फलेच्छा सापेक्ष साहंकार कर्म। (१४६)

कर्म–राग-द्वेषादि तो भावकर्म है, और इनके निमित्त से संचित किन्हीं सूक्ष्माणुओं का संश्लेष द्रव्यकर्म है। (३५३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कायक्लेश–उग्र आसन मांड कर धूप शीत या वर्षा में निश्चल स्थित रहना। (२१२)

कायोत्सर्ग–शरीर को ठूंठ या काष्ठ वत् सोचकर निश्चल व निष्क्रिय हो जाना। (१९९)

कार्मण शरीर–उपरोक्त द्रव्य-कर्मों का संचय। (२९८)

काल–द्रव्यों के परिणमन में उदासीन हेतुभूत, अणु-परिमाण, असंख्यात अमूर्त्तिक द्रव्य–(३७७-३७८)

क्षमा–क्रोध का कारण होने पर भी क्रोध न करना। (२६८)

क्षोभ–राग द्वेष-युक्त परिणाम (११७)

गर्हा–गुरु के समक्ष अपने दोष बताकर आत्मनिन्दन करना। (२१५)

गुण–प्रत्येक अवस्था में द्रव्य के साथ रहने वाले उसके स्थायी अंश। यथा मनुष्य में ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि तथा आम में रूप रस गन्ध आदि। (३६३)

गुणव्रत–अहिंसा आदि मूल अणुव्रतों के मूल्य को अनेक-गुणा कर देने वाले कुछ नियम। (१८१)

गुप्ति–मन वचन काय का गोपन। अशुभ योग की निवृत्ति। (१९२)

गुरु उपासना–गुरु-विनय। (२६०)

ज्ञप्ति-क्रिया–निष्काम कर्म। (१४७)

चातुर्याम मार्ग–अहिंसा, सत्य, अचौर्य व ब्रह्मचर्य इन चार व्रतों का मार्ग। (४१५)

छल–वक्ता के अभिप्राय से विपरीत शब्दार्थ करना। (४)

छेदोपस्थापना–व्रत समिति आदि के विकल्पों से युक्त व्यवहार चारित्र। (४१६)

जम्बूद्वीप–यह पृथिवी-मण्डल। (४०९)

जीव–प्रत्येक देह में स्थित चेतन अमूर्त्तिक जीवात्मा। (२८९-२९३)

तत्त्व–द्रव्यादि का सारभूत भाव (३०९) तत्व नौ हैं (२०७)

तप–इच्छा का निरोध (२०७)

तीर्थंकर–तीर्थ अर्थात् संसार सागर का किनारा। उसके प्रति प्रवृत्त होनेवाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। (४१०)

तिर्यंच–वनस्पति व कीट-पतंग आदि से लेकर पशु-पक्षी पर्यन्त सर्व जीव-राशि। (१११)

तैजस शरीर–इस स्थूल देह में कान्ति व स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला कोई आभ्यन्तर सूक्ष्म शरीर। (२९८)

त्याग–प्राप्त भोगों के प्रति पीठ दिखाकर चलना। (२८२)

दया–परदुःख-कातरता। (२६२-६३)

दान–दान देकर खाना ही खाना है। (२६५)

दिगम्बर–केवल नग्न लिंग से मुक्ति मानने वाला एक प्रधान जैन सम्प्रदाय। (४१७)

दिग्व्रत–दिशाओं की सीमा का परिमाण करके उससे बाहर व्यापार करने का त्याग। (१८२)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव–स्वर्गवासी। (१११)

द्रव्य–गुण-पर्यायवान्। (३६३)
उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त। (३६७)
त्रिकालवर्ती पर्यायों का पिण्ड। (३६६)
द्रव्य छह हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। (३८७)

द्रव्यार्थिक नय–पर्याय या विशेष को गौण करके केवल अनुगताकार सामान्य को ग्रहण करने वाली दृष्टि। (३९७)

द्रव्येन्द्रिय–देहगत आँख नाक आदि।

द्वेष–अनिष्ट विषयों के प्रति अरति भाव (१२८); विशेष दे० (११८-१२१)

धर्म–समता निश्चय धर्म है और व्रत दया दान आदि व्यवहार धर्म है। (२४२)

धर्म द्रव्य–जीव पुद्गल की गति में उदासीन सहकारी, लोकाकाश प्रमाण एक अमूर्त्तिक द्रव्य। (३०३)

ध्यान–शरीर को स्थिर करके मन को किसी विषय के प्रति एकाग्र करना। (२२४-२२७)

नय–प्रयोजनवश वस्तु के किसी एक अंश को प्रधान करके देखने व कहनेवाला अभिप्राय या पक्ष-विशेष। (३८१)

नरक–लोकाकाश का अधोभाग (११२)

निःकांक्षित्व–निष्कामता। (५३)

निःशंकित्व–तात्त्विक निर्भीकता। (५२)

निदान–परभव में सुख की कामना। (१६१)

निरपेक्ष–सहवर्ती दूसरे धर्म या पक्ष का लोप करके केवल अपना पक्ष पुष्ट करनेवाला अभिप्राय। (३८६)

निर्जरा–तप द्वारा कर्मों का क्षीण होना। (३३२)

निर्विचिकित्सा–किसी भी धर्म या पदार्थ के प्रति ग्लानि न होना। (५०)

निश्चय–एकरसात्मक अखण्ड तत्त्व (२७-२८)। आभ्यन्तर परिणाम व स्वसंवेदन ज्ञान। (अधि० ३)

नैगम नय–द्वैताद्वैत ग्राही दृष्टि। (३८९)

पंचशिक्ष मार्ग–अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह, ऐसे पांच व्रतों का मार्ग (१६३)

पण्डित–तत्त्वज्ञ, सम्यग्दृष्टि। (१४४)

पण्डितमरण–समाधि या सल्लेखना मरण। (१३३)

परम भाव–पूर्ण-काम, योगनिष्ठ। (३०)

परमात्मा–जीव की सभी पर्यायों में अनुगत शुद्ध चित्तत्व कारण-परमात्मा है (३४३), और मुक्तात्मा कार्य-परमात्मा है। (३४४-३४५)

परमेष्ठी–अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय व साधु ये पाँच (१), परमेष्ठी कहलाते हैं। (२२८)

परसमय–मिथ्यादृष्टि अज्ञानी। (८३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रह–देहादि अनात्मभूत पदार्थों में मूर्च्छा या इच्छा का भाव। (१७७, ४२९)

परिणमन–मनुष्य की वाल-वृद्धादि अवस्थाओं की भाँति, द्रव्य में पर्यायों का नित्य वदलते रहना। (१२१)

परीषह-जय–तितिक्षा। (१३७)

पर्याय–द्रव्य व गुण के नित्य परिवर्तनशील क्रमवर्ती कार्य। मनुष्य की वाल वृद्धादि अवस्थाएँ तथा आम की कच्ची-पक्की आदि अवस्थाएँ 'द्रव्य-पर्यायें' हैं, और ज्ञान की तरतमताएँ तथा रस की खट्टी मीठी आदि अवस्थाएँ गुण-पर्यायें हैं। (३६३)

पर्यायार्थिक नय–द्रव्य या सामान्यांश को छोड़ कर केवल पर्याय या विशेषांश को ग्रहण करनेवाली दृष्टि। (३९७-३९९)

पुद्गल–रूप-रसादि-गुणयुक्त तथा पूरण-गलन स्वभावी मूर्त्तिक या भौतिक द्रव्य। (२९४-३००)

प्रतिक्रमण–भूतकालीन दोषों का आत्म-ग्लानि के भाव द्वारा शोधन करना।

प्रतिष्ठापना समिति–मल-मूत्र का निर्जन स्थान में निक्षेपण करना। (१९७)

प्रदेश–एक परमाणु परिमाण क्षेत्र। (३०८)

प्रमाण–अनेक धर्मात्मक वस्तु को, मुख्य गौण किये बिना, युगपत ग्रहण करनेवाला ज्ञान। (३८३)

प्रमाद–शास्त्रविहित कर्मों के प्रति अथवा अपने स्वरूप के प्रति अनुत्साह। (१५४–१५८)

प्रशम–राग-द्वेषविहीन शान्त परिणाम। (७२–७३)

प्रायश्चित्त–अपने दोषों के शोधनार्थ पश्चात्तापपूर्वक ग्रहण किया गया दण्ड। (२१४)

प्रोषध–पर्व के दिन आहार भोग व शरीर-संस्कार आदि का त्याग करके धर्म-ध्यान में समय बिताना।

बन्ध–राग-द्वेष के कारण होने वाला कर्मसंचय। (३२९–३३१)

बहुश्रुत–शास्त्रज्ञ। (१४०)

बाल–अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि। (१४४)

बालचरण–समताविहीन कोरा कर्मकाण्ड। (१४२)

बालश्रुत–तत्त्व विहीन कोरा शास्त्रज्ञान। (१४२)

बोधिदुर्लभ–जगत् की दुर्लभ से दुर्लभ वस्तुओं में भी श्रद्धा व संयमयुक्त तत्त्वज्ञान दुर्लभतम है। (११२–११४)

ब्रह्मचर्य–आत्मा में रमण निश्चय ब्रह्मचर्य है (१७३) और स्त्री-त्याग व्यवहार ब्रह्मचर्य। (१७५)

भक्ति–ज्ञानादि गुणों का वहुमान निश्चय भक्ति है। (२५५) और जिनेन्द्र भक्ति व्यवहार है। (२५६)

भय–भय सात होते हैं। (५३)

भरतक्षेत्र–जम्बूद्वीप का दक्षिणवर्ती क्षेत्र। (४०९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावेन्द्रिय—इन्द्रियगत देखने सुनने आदि की शक्ति।

भाषा-समिति—सोच समझकर स्व-पर हितकारी वचन बोलना (१९४)

भोग-परिभोग परिणाण व्रत—भोगेच्छा को वश करने के लिए भोग-परिभोग की वस्तुओं का परिमाण करना। (१८३)

मध्यलोक—लोकाकाश का मध्यवर्ती वह भाग जिसमें तिर्यंच व मनुष्य रहते हैं। (११०)

मनोगुप्ति—रागादि की निवृत्ति। (१९८)

महाव्रत—अहिंसा आदि का पूर्णदेश पालन। (१६३)

मार्दव—अष्टविध मद का न होना। (२७०)

मिथ्यात्व—तत्त्व विषयक विपरीत श्रद्धान। (१४)

मोक्ष—कर्मों के निःशेष विध्वंस हो जाने पर जीव की वासना-शून्य शुद्ध बुद्ध अवस्था (३३६), पुनः संसार में आवर्तन नहीं होता (३४०)

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीनों की समुदित एकता। (२२)

मोह—अनात्मभूत जगत् में स्वामित्व कर्तृत्व व भोक्तृत्व बुद्धि का होना (११७)

मौन—अनात्मभूत पदार्थों में मन की प्रवृत्ति न होना। (२००)

यज्ञ—तप रूपी अग्नि में कर्मों का होम। (२६६)

युक्ताहार—शुद्ध व परिमित आहार। (२०२)

योग—मन वचन काय को प्रवृत्त करने वाला आभ्यन्तर प्रयत्न। (१९)

रत्नत्रय—मोक्षमार्ग के तीन प्रधान अंग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र। (२०)

रस-परित्याग—नमक मीठा घी आदि रसों को छोड़ कर नीरस आहार करना। (२०७)

राग—इष्ट विषयों के प्रति रति भाव (१२८), विशेष दे० (११८-१२१)

लेश्या—कषायानुरंजित प्रवृत्ति। (२३९)

लोक—आकाश का मध्यवर्ती वह भाग जिसमें जीव आदि षट् द्रव्य अवस्थित हैं (३०२)। यह तीन भागों में विभाजित है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व। (११०)

वचन गुप्ति—अलीक वचनों की निवृत्ति अथवा मौन। (१९८)

वात्सल्य—मैत्री, प्रमोद, करुणा, मध्यस्थता आदि रूप भाव। (७१)

विनय—अभ्युत्थान, अनुगमन, गुरु-इच्छानुसार वर्तन। (११६-१८)

विभक्त—आत्मा की देहादि से पृथकता। (४)

विविक्त देशसेवित्व—एकान्तवास। (२१०)

विषय—इन्द्रियों के भोग्य।(८)

वृत्ति परिसंख्यान—इस विधि से भिक्षा मिलेगी तो लेंगे अन्यथा नहीं, ऐसे अटपटे अभिग्रह। (२०९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैक्रियिक शरीर—अणिमा गरिमा आदि विक्रियाओं में समर्थ देवों व नारकीयों का शरीर। (२९८)

वैयावृत्य—वृद्ध रोगी व गुरु आदि की सेवा। (२१९-२२१)

वैराग्य—संसार देह भोगों से विरक्तता। (१३०)

व्यवहार—भेदोपचार अर्थात् अखण्ड तत्त्व में गुण-गुणी आदि रूप भेद करना (२७–२८), अभेदोपचार अर्थात् अनात्मभूत पदार्थों में स्वामित्व कर्तृत्व व भोक्तृत्व रूप सम्बन्ध स्थापित करना। अथवा वाह्य ज्ञान वाह्य आचार आदि।

व्रत—हिंसा अनृत आदि के प्रति विरति भाव। (त० सू० ७.१) (१६३)

शब्द नय—पदार्थ के वाचक शब्द के विषय में तर्क-वितर्क करने वाली दृष्टि। (३८९)

शम—मोह क्षोभ विहीन समता परिणाम (११७)। वैराग्य (१३१),

शल्य—जीव का वह सूक्ष्म कषायला भाव जो कांटे की भाँति मन में बराबर चुभता रहता है। यह तीन प्रकार का होता है—माया, मिथ्या व निदना।(१५९–१६०)

शिक्षाव्रत—श्रावक के कुछ ऐसे नियम जिनके द्वारा उसे साधु धर्म की शिक्षा मिले, यथा कुछ काल पर्यन्त समता युक्त हो सामायिक करना। (१८५)

शील व्रत—अहिंसा आदि पाँच मूल व्रतों के रक्षणार्थ धारण किये गये कुछ नियम। (१७९)

शुक्ल ध्यान—ध्यान ध्याता ध्येय की त्रिपुटीरहित निर्विकल्प समाधि। (२३१)

शुद्धोपयोग—सर्व कामनाओं व विकल्पों से अतीत केवल ज्ञाता दृष्टा भाव। (१११)

शुद्धोपयोग—व्रत समिति गुप्ति आदि पालने के भाव। (१११)

शौच—सन्तोषरूपी जल से लोभ रूपी मैल को धोना। (२७६)

श्रमण—साधु। (२४९)

श्रावक—त्यागी व विवेकी गृहस्थ।(१७९)

श्रुत—शास्त्र तथा शास्त्रज्ञान। (११२)

श्वेताम्बर—किसी भी लिंग से मुक्ति माननेवाला एक प्रधान जैन सम्प्रदाय। (४२३–४२४)

षडावश्यक कर्म—दे० आवश्यक कर्म।

सचित्त—सजीव पदार्थ, यथा हरित वनस्पति, कीट पतंग आदि।(१७०)

सत्य—तथ्य प्रिय व हितकर वचन। (१६८)

समिति—चलने, बोलने, खाने आदि दैनिक क्रियाओं के प्रति यत्नाचारी प्रवृत्ति। (१५३, १९२)

सम्यग्ज्ञान—जीवादि नव तत्त्वों का सम्यगवधारण। (२२)
आत्मा व अनात्मा का विवेक। (७९) अखण्ड तत्त्व का निर्विकल्प ज्ञान (८२)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्चारित्र–रागद्वेष का परिहार (२२), समता (११६), अशुभ से निवृत्ति (गुप्ति) तथा शुभ में प्रवृत्ति (समिति)। (१३९)

सम्यग्दर्शन–जीवादि नव तत्त्वों का श्रद्धान (२२), अथवा नवतत्त्वों में अनुगत शुद्धात्मा की श्रद्धा रुचि प्रतीति। (४३)

सराग धर्म–व्रत समिति गुप्ति आदि रूप सविकल्प आचरण। (१५४)

सल्लेखना–कषाय व देह को सम्यक् प्रकार कृश करते हुए समतापूर्वक देह का त्याग कर देना।(२३८)

संग्रह नय–तत्त्व के भेद-प्रभेद रूप व्यष्टि सत्ताओं को संग्रह करके एक रूप देखने वाली दृष्टि (३८९)।

संयम–पंचव्रत-धारण, पंच-समिति-पालन, कषायचतुष्क-निग्रह, पंचेन्द्रिय-विजय आदि। (१६२)

संवर–संयम द्वारा कर्मों के आगमन को रोक देना। (३२०)

संवेग–धर्म व धर्म-फल के प्रति बहुमान का भाव। (१३०)

संसार–जन्म-मरण रूप संसरण (६-७)

सागार धर्म–सग्रन्थ अर्थात् गृहस्थ का धर्म। (२४७)

सापेक्ष–प्रयोजनवश किसी एक धर्म को मुख्य (३७८) तथा अन्य को गौण कर देना। (३८६)

सामायिक–समता भाव (१८७), सर्व सावद्य कर्मों का त्याग। (१८८)

सामायिक संयम–समता-प्रधान निर्विकल्प निश्चय चारित्र। (१८७)

सिद्ध–लोक-शिखर पर विराजित मुक्तात्मा। (१)

स्कन्ध–अणुओं के संघात से निर्मित पदार्थ। (३४९–३५१)

स्थितिकरणत्व–कदाचित साधना मार्ग से डिग जाने पर पुनः उसी में स्थापित होने का प्रयत्न। (६९)

स्याद्वाद–वाक्य को कथंचित्-वाचक स्यात्-पद-मुद्रित करके बोलने की न्यायपूर्ण पद्धति, ताकि अनपेक्षित धर्मों का लोप होने के बजाय अनुक्त रूप से उनका भी संग्रह हो जाय। (४०५-४०६)

स्वभाववाद–वस्तु स्वभाव से ही परिणमन शील है। (३४६)

स्वाध्याय–शास्त्राध्ययन सर्वप्रधान तप है। (१२२–१२३)

हिंसा–जीवों का मारना व्यवहार हिंसा है और राग-द्वेष की उत्पत्ति निश्चय हिंसा है। (१६६)

4535
3-8-99

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म-वाङ्मय

गीता-प्रवचन	२.५०
महावीर-वाणी	५.००
नीति-निर्झर	२.००
ताओ उपनिषद्	१.००
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	३.००
गीताबोध व मंगलप्रभात	१.००
प्रेरणा-प्रवाह	२.००
धर्मों की फुलवारी (१२ भाग)	९.००
धम्मपदम् (नव संहिता)	४.००
गीता-तत्त्व-बोध (२ खण्डों में)	७०.००
जीवन-साधना	२.००
गांधी-बोध	२.००

आदि-आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi